Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिंदू धर्म के सोलह संस्कार

सच्चिदानंद शुक्ल

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिंदू धर्म के सोलह संस्कार

सच्चिदानंद शुक्ल

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

B3
A.S.

'संस्कार' या 'संस्कृति' शब्द संस्कृत भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है—मनुष्य का वह कर्म, जो अलंकृत और सुसज्जित हो। प्रकारांतर से संस्कृति शब्द का अर्थ है—धर्म। संस्कृति और संस्कार में कोई अंतर नहीं है। दोनों का एक ही अर्थ है, मात्र 'इकार' की मात्रा का अंतर है। हिंदू धर्म में मुख्य रूप से सोलह संस्कार हैं, जो संस्कार मनुष्य की जाति और अवस्था के अनुसार किए जानेवाले धर्म कार्यों की प्रतिष्ठा करते हैं।

हिंदू धर्म-दर्शन की संस्कृति यज्ञमय है, क्योंकि सृष्टि ही यज्ञ का परिणाम है, उसका अंत (मनुष्य की अंत्येष्टि) भी यज्ञमय है (शव को चितारूपी हवन कुंड में आहुति के रूप में हवन करना)। इस यज्ञमय क्रिया (संस्कार) में गर्भाधान से लेकर अंत्येष्टि क्रिया तक सभी कृत्य (संस्कार) यज्ञमय संस्कार के रूप में जाने और माने जाते हैं।

हिंदू धर्म के ये सोलह संस्कार मात्र कर्मकांड नहीं हैं, जिन्हें यों ही ढोया जा रहा है अपितु पूर्णतः वैज्ञानिक एवं तथ्यपरक हैं। उनमें से कुछ का तो देश-काल-परिस्थिति के कारण लोप हो गया है और कुछ का एक से अधिक संस्कारों में समावेश, कुछ का अब भी प्रचलन है और कुछ प्रतीक मात्र रह गए हैं, जबकि सभी सोलह संस्कारों को करना प्रत्येक हिंदू के लिए आवश्यक है।

प्रस्तुत पुस्तक में सरल-सुबोध भाषा में इन्हीं संस्कारों के औचित्य को बताया गया है। विश्वास है सुधी पाठक इस पुस्तक के माध्यम से अपनी भुलाई हुई विरासत से जुड़कर लाभान्वित होंगे।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हिंदू धर्म के सोलह संस्कार

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
70685

हिंदू धर्म के सोलह संस्कार

डॉ. सच्चिदानंद शुक्ल

प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वरिष्ठ कवि, साहित्यकार एवं पत्रकार
पिताजी स्व. श्री परमहंस शुक्ल
तथा
मेरी स्नेहमयी माताजी स्व. श्रीमती शारदा देवी
को,
जिनकी दयामयी स्नेहिल उँगली पकड़कर
मैंने ज्ञान की डगर पर चलना सीखा।
शब्द और अर्थ की भाँति मिले हुए
उन दोनों के प्रति मेरी भावात्मक श्रद्धांजलि।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रस्तावना

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।' अर्थात् जो जन्म लेता है, उसे मरना भी होता है। हिंदू धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि चौरासी लाख योनियों में भटकता हुआ प्राणी ईश्वर की कृपा से तथा अपने पुण्य कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य योनि प्राप्त करता है। मनुष्य शरीर प्राप्त करने पर वह जीवनपर्यंत जो कुछ भी अच्छे-बुरे कर्म करता है, उसके अनुसार पाप-पुण्य अर्थात् सुख-दुःख अगली योनि या जन्मों में भोगने पड़ते हैं—**'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'** मनुष्य योनि के अतिरिक्त संसार की जितनी भी अन्य योनियाँ हैं, वे सब भोग योनियाँ हैं—अर्थात् किए गए कर्मों के फल (परिणाम) भोगने की योनियाँ हैं। मात्र मनुष्य योनि ही कर्म योनि है, जिसमें अपने विवेक से वह अच्छे-बुरे कर्मों को करने में स्वतंत्र है, किंतु उसका फल ईश्वर के अधीन है।

मानव शिशु (जीव) जब माता के गर्भ में रहता है, उस समय उसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। वह ईश्वर को वचन देता है कि भगवन्! इस गर्भ रूपी बंधन से छूटने पर मैं जीवन भर तुम्हारी भक्ति करूँगा, ताकि फिर से यह गर्भ का दुःख न भोगना पड़े। किंतु जब वह गर्भ से बाहर निकलता है, तब वह ईश्वर की माया में फँस जाता है और अनेक जन्मों की वासना के कारण विषय-भोगों में ही रम जाता है। 'गर्भोपनिषद्' में जीव की इस स्थिति का रोचक वर्णन है।

गर्भ के नौवें माह में जब जीव ज्ञानेंद्रिय आदि सभी लक्षणों से पूर्ण हो जाता है, तब वह पूर्वजन्म का स्मरण करता है। उसके द्वारा किए गए शुभ-अशुभ कर्म भी उसे स्मरण होने लगते हैं और वह पश्चात्ताप करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करता है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

"मैंने सहस्त्रों पूर्वजन्मों को देखा, उनमें अनेक प्रकार के भोजन किए, अनेक प्रकार की योनियों के स्तनपान किए। मैं बार-बार जनमा, मृत्यु को प्राप्त हुआ। अपने परिवारवालों के लिए मैंने जो अच्छे-बुरे कर्म किए, उनको सोचकर मैं पीड़ित हो रहा हूँ। उन भोगों को भोगनेवाले तो चले गए, किंतु मैं यहाँ दुःख के समुद्र में पड़ा इससे उबरने का कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ।

यदि मैं इस गर्भ से निकल जाऊँगा तो मैं समस्त अशुभ का नाश करनेवाले और मुक्तिरूप फल प्रदान करनेवाले ईश्वर के चरणों का ही सहारा लूँगा। इसके बाद योनिद्वार को प्राप्त होकर योनिरूप यंत्र में दबाया जाकर वह अत्यंत पीड़ा व कष्ट से जन्म ग्रहण करता है। बाहर निकलते ही वैष्णवी वायु (माया) के स्पर्श से वह अपने पिछले जन्म और मृत्यु को भूल जाता है तथा शुभाशुभ के कर्म भी उसके सामने से हट जाते हैं। वह फिर से '**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं**' के संसार-चक्र में पड़ जाता है।

हिंदू धर्म-दर्शन में यज्ञ को प्रधान माना गया है। यज्ञ से ही उसके जीवन के विविध पक्ष संचालित होते हैं। 'गीता' में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ (३/१०)

अर्थात् 'यज्ञ के साथ प्रजा की सृष्टि करके प्रजापति ने पहले कहा कि इसी से (यज्ञ से) तुम लोग बढ़ो और यह तुम लोगों के लिए कामधेनु हो।'

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। (३/९)

अर्थात् 'यज्ञ के लिए ही कर्म होना चाहिए। जितने कर्म हैं, उनका अनुष्ठान यज्ञरूप से ही होना चाहिए।' इसी कारण हिंदू धर्म में नहाना, खाना, सोना, अंत्येष्टि आदि सब यज्ञरूप हैं; गर्भाधान भी यज्ञ रूप है। छांदोग्य उपनिषद् में गर्भाधान के बारे में व्याख्या करते हुए कहा गया है—

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वाऽर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिंगाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः सम्भवति।

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्युदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिंगाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति। (अध्याय ५, खंड -७-८) अर्थात् 'हे गौतम! पुरुष अग्नि है। उसकी वाणी ही समित् (समिधा) है, प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, आँख अंगारे हैं, कान चिनगारियाँ हैं; उसी अग्नि में देवता अन्न का होम करते हैं। उस आहुति से वीर्य होता है।

हे गौतम! स्त्री अग्नि है। उसका उपस्थ समित् है, जो उस समय बात करता है। वह धूप है, योनि ज्वाला है, प्रसंग (रतिकर्म) अंगारा है, सुख चिनगारी है। उसी अग्नि में देवता लोग वीर्य का होम करते हैं। उस आहुति से गर्भ होता है।'

हिंदू धर्म-दर्शन तथा संस्कृति की अनेक विशेषताओं में इसका चिंतन पक्ष इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि संपूर्ण सृष्टि को यज्ञमय माना जाता है। अर्थात् संपूर्ण सृष्टि यज्ञ का परिणाम है। वेदों में 'यज्ञ' ही प्रधान विषय है। यज्ञ एक ऐसा विज्ञानमय विधान है, जिससे मानव का भौतिक एवं आध्यात्मिक कल्याण और उन्नति होती है। इस प्रकार यज्ञ तथा संस्कार एक-दूसरे से गुंफित हैं। सृष्टि-यज्ञ का प्रारंभ गर्भाधान संस्कार में गर्भाधान रूप यज्ञ है, जिसमें पुरुष शुक्राणु (वीर्य) रूपी हवि का आधान (हवन) नारी योनि (कुंड) में करता है। फलस्वरूप सृष्टि का बीज अंकुरित होकर शिशु रूप में उत्पन्न होता है।

इस प्रकार गर्भाधान सृष्टि-यज्ञ का प्रथम संस्कार है। इससे संबंधित अनेक संस्कारों, जिनकी संख्या कहीं १६, कहीं ३६, कहीं ४४ और कहीं ४८ है, का विधान है। गृहस्थों के लिए पंच महायज्ञ, अग्निहोत्र आदि भी यज्ञरूप ही हैं। अंत्येष्टि संस्कार को अंतिम यज्ञ माना गया है, जिसमें शव को श्मशान में चिता रूपी यज्ञकुंड में आहुति के रूप में हवन (दहन) करके उसे पंचतत्त्वों को समर्पित किया जाता है। मानव शरीर पंचभूतों क्षिति (पृथ्वी), जल, पावक (अग्नि), गगन व समीर (वायु) से निर्मित है और इस अंतिम यज्ञ के माध्यम से सभी भूत (मूल तत्त्व) अपने-अपने मूल स्वरूपों को प्राप्त हो जाते हैं। परमात्मा स्वयं अग्नि-स्वरूप है। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि में जो क्रियाशीलता है, वस्तुतः वही यज्ञ है। यज्ञ का अर्थ देवपूजा, संगतिकरण एवं दान आदि भी है।

अनादि काल से जीव के साथ उसके अपने पूर्वजन्म के अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार शुद्ध-अशुद्ध वासनाएँ जुड़ी रहती हैं। मनुष्य जब अच्छे कार्य करता है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तो उसे पुण्य तो होता ही है, शुद्ध वासनाएँ (इच्छाएँ) भी उसके साथ संलग्न हो जाती हैं। इसी प्रकार अशुभ (बुरे) कर्मों के करने से दुःख और बुरी वासनाओं का जन्म होता है। बुरी या मलिन वासनाओं से उसके अंतःकरण (मन) और बाह्य कार्य प्रभावित हो जाते हैं—अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त आदि अशुद्ध या दोषपूर्ण हो जाते हैं। परिणामस्वरूप व्यक्ति अपने आत्मोद्धार के लिए किए जानेवाले अच्छे कर्मों को छोड़कर बुरे मार्ग को स्वीकार कर लेता है। इसलिए उसे आत्मकल्याण के लिए, जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होने के लिए आंतरिक और बाह्य संस्कार की आवश्यकता होती है।

संस्कारों से आत्मा-अंतःकरण शुद्ध होता है। संस्कार मनुष्य को पाप और अज्ञान से दूर रखकर आचार-विचार और ज्ञान-विज्ञान से जोड़ते हैं। इसीलिए हिंदू धर्मशास्त्रों में संस्कारों पर बहुत बल दिया गया है। संस्कार मुख्य रूप से तीन प्रकार के होते हैं—(१) मलापनयन, (२) अतिशयाधान और (३) न्यूनांगपूरक किसी दर्पण या वस्तु पर पड़ी हुई धूल आदि सामान्य मल (गंदगी) को वस्त्र आदि से पोंछना-हटाना या स्वच्छ करना 'मलापनयन' है और किसी रंग या तेजोमय पदार्थ द्वारा उस दर्पण या वस्तु को चमकाना या प्रकाशित करना अतिशयाधान है। इसे अन्य शब्दों में भावना, प्रतियत्न या गुणाधान-संस्कार भी कहते हैं। किसी पदार्थ में अन्य पदार्थ मिलाकर उसके खराब अंश को साफ कर उसे उत्कृष्ट बनाया जाता है, तो उसे न्यूनांगपूरक संस्कार कहते हैं।

'संस्कृति' शब्द का शुद्ध अर्थ है—धर्म। 'संस्कृति' शब्द का दूसरा वाचक शब्द है—संस्कार, जो 'सम्' उपसर्गपूर्वक, 'कृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर **'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे'** सूत्र से 'सुट्' का आगम होकर बनता है। संस्कार हमारे यहाँ मुख्य रूप से गर्भाधान से लेकर अंत्येष्टि तक सोलह हैं। कुछ आचार्यों के मत में बयालीस संस्कार भी हैं। ये सभी संस्कार व्यक्ति की जाति और अवस्था के अनुसार किए जाते हैं और धर्म कार्यों की प्रतिस्थापना करते हैं।

गर्भाधान, पुंसवन और सीमंत—ये तीन संस्कार जन्म के पूर्व किए जाते हैं। इनसे जीव में पिता के वीर्य संबंधी तथा माता के रज संबंधी जो दोष हैं, उनकी निवृत्ति होती है। रज और वीर्य के मिलने से ही जीव की उत्पत्ति होती है। ये दोनों माता-पिता के मल-मूत्र स्थानापन्न हैं। इन्हीं दोषों को दूर करने के लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उक्त तीनों संस्कार किए जाते हैं। मनुस्मृति (२/२९) में कहा गया है—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥

अर्थात् गर्भाधान, पुंसवन और सीमंत-संस्कार के समय जो होम होते हैं, उनके द्वारा माता-पिता के मल-मूत्र से आए रज और वीर्य के दोष दूर होते हैं। जो जीव नौ मास तक माता के गर्भ में रहता है, वहाँ मल-मूत्र का भंडार, रक्त आदि तथा माता के खाए हुए अपवित्र पदार्थों का संचयन रहता है, जिसमें जीव पड़ा रहता है। उस दोष की निवृत्ति के लिए जीव के जन्म के बाद जातकर्म से चूड़ाकर्म (मुंडन) पर्यंत संस्कार होते हैं। इसके बाद गोदान, यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कार होते हैं। इन संस्कारों से व्यक्ति सुसज्जित एवं भूषित होता है। अंत्येष्टि संस्कार के द्वारा जीव के परलोक की गति को सद्गति देने का कार्य होता है। इस प्रकार मानव जीवन को जन्म से मृत्युपर्यंत संस्कारित करने का विधान हमारे शास्त्रों ने वैज्ञानिक ढंग से किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में उपर्युक्त सभी बातों का वर्णन किया गया है, जिन्हें अपनाकर मानव जीवन संस्कारित हो सकता है और अपने चरम लक्ष्य 'मोक्ष' को प्राप्त कर सकता है। वर्तमान में तो हिंदुओं की संस्कार-प्रथा अवैज्ञानिकता का शिकार हो गई है। संतान के विधिवत् संस्कार कराने का महत्त्व लोग भूलते जा रहे हैं। इसके कारण नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक पतन के साथ-साथ बल, वीर्य, प्रज्ञा और दैवी गुणों की कमी हो रही है। अतः इस पुस्तक के माध्यम से हिंदुओं में अपने संस्कारों के प्रति जागरूकता उत्पन्न हो सके तो अति उत्तम होगा। अस्तु।

श्रावण पूर्णिमा
वि.सं. २०६६

—डॉ. सच्चिदानंद शुक्ल

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुक्रम

१. संस्कार किसे कहते हैं ? अर्थ व परिभाषा १५

२. संस्कारों का विकास २४

३. संस्कारों के प्रयोजन या उद्देश्य २९

४. संस्कारों के भेद या प्रकार ३७

५. सोलह संस्कारों का विवेचन ४७

१. गर्भाधान संस्कार ४७

२. पुंसवन संस्कार ५४

३. सीमंतोन्नयन संस्कार ५९

४. निष्क्रमण संस्कार ६४

५. अन्नप्राशन संस्कार ६७

६. जातकर्म संस्कार ७०

७. नामकरण संस्कार ७५

८. कर्णवेध संस्कार ७८

९. चूड़ाकरण संस्कार (वपन क्रिया) ८३

१०. उपनयन (व्रतादेश) संस्कार ८७

११. वेदारंभ संस्कार या वेद स्वाध्याय ९३

१२. केशांत (गोदान) संस्कार ९७

१३. समावर्तन संस्कार १०१

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

१४. विवाह संस्कार १०७

१५. विवाहाग्नि-परिग्रह संस्कार ११२

१६. त्रेताग्नि-संग्रह संस्कार ११४

६. उपसंहार ११६

परिशिष्ट

१. धर्मशुद्धि संस्कार ११९

२. अंत्येष्टि संस्कार १२१

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

१

संस्कार किसे कहते हैं? अर्थ व परिभाषा

'संस्कार' शब्द का दूसरी भाषाओं में ज्यों का-त्यों (यथातथ्य) अनुवाद करना असंभव है। अंग्रेजी भाषा के 'सिरीमॅनी' (cer-emony) और लैटिन भाषा के सेरीमोनिया (caerimonia) शब्दों में 'संस्कार' शब्द का निर्वहन या उसका अर्थ व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। इसकी अपेक्षा सिरीमॅनी शब्द का प्रयोग संस्कृत 'कर्म' अथवा सामान्य रूप से धार्मिक क्रियाओं के लिए अधिक उपयुक्त है।'' (हिंदी संस्कार, डॉ. राजबली पांडेय)

'संस्कार' का तात्पर्य निरी बाह्य धार्मिक क्रियाओं, अनुशासित अनुष्ठान, अर्थ आडंबर, कोरा कर्मकांड, राज्य द्वारा निर्दिष्ट चलन, औपचारिकताओं तथा अनुशासित व्यवहार से नहीं है, जैसा कि साधारणतः समझा जाता है और न उसका अभिप्राय उन विधि-विधानों तथा कर्मकांडों से ही है, जिनसे हम विधि का स्वरूप, धार्मिक कृत्य अथवा अनुष्ठान के लिए आवश्यक या सामान्य क्रिया अथवा किसी चर्च के विशिष्ट चलनों (परंपरा) के अर्थ में लेते हैं।

'संस्कार' शब्द का अधिक उपयुक्त पर्याय अंग्रेजी का 'सेक्रामेंट' शब्द है, जिसका अर्थ है—धार्मिक विधि-विधान अथवा कृत्य, जो आंतरिक व आत्मिक सौंदर्य का बाह्य तथा दृश्य प्रतीक माना जाता है और जिसका व्यवहार प्राच्य, प्राक्-सुधार कालीन पाश्चात्य तथा रोमन कैथोलिक चर्च 'बपतिस्मा',

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संपुष्टि (कन्फर्मेशन), यूखारिस्त, व्रत (पीनांस), अभ्यंजन (एक्स्ट्रीम अंक्शन), आदेश तथा विवाह के सात कृत्य के लिए करते थे। सेक्रामेंट (sacrament) शब्द का अर्थ किसी वचन अथवा प्रतिमा की पुष्टि, रहस्यपूर्ण महत्त्व की वस्तु, पवित्र प्रभाव भी है। (ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी) इस प्रकार 'सेक्रामेंट' शब्द अनेक अन्य धार्मिक क्षेत्रों को भी व्याप्त कर लेता है, जो संस्कृत साहित्य में शुद्धि, प्रायश्चित्त, व्रत आदि शब्दों के अंतर्गत आते हैं।

संस्कृत भाषा में 'संस्कार' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की सम् पूर्वक 'कृञ्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय करके की गई है। (सम्+कृ+घञ्=संस्कार) और इसका प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। मीमांसक इसका आशय यज्ञांगभूत पुरोडाश आदि की विधिवत् शुद्धि से समझते हैं—**प्रोक्षणादिजन्यसंस्कारो यज्ञांगपुरोडाशेष्विति द्रव्यधर्मः**। (वाचस्पत्य वृहदभिधान, ५, पृष्ठ ५१८८)। अद्वैतवेदांती जीव पर शारीरिक, क्रियाओं के मिथ्या आरोप को संस्कार मानते हैं—'**स्नानाचमनादिजन्याः संस्कारा देहे उत्पद्यमानानि तदभिधानानि जीवे कल्प्यन्ते।**' (वही)

नैय्यायिक भावों को व्यक्त करने की आत्मव्यंजक शक्ति को संस्कार समझते हैं, जिसका परिगणन वैशेषिक दर्शन में चौबीस गुणों के अंतर्गत किया गया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में 'संस्कार' शब्द का प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण (**निसर्गसंस्कार विनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराज शब्दभाक्**-रघुवंश, ३,३५); सौजन्य, पूर्णता, व्याकरण संबंधी शुद्धि—'**संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च।**' (कुमारसंभव, १,२८); संस्करण, परिष्करण—'**प्रयुक्त संस्कार इवाधिकं बभौ**' (रघुवंश, ३,१८); शोभा, आभूषण—'**स्वभाव सुन्दरं वस्तु न संस्कारमपेक्षणे।**' (शाकुंतल, ७,३३); प्रस्ताव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, छाप—'**यन्नवे भाजनेय लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।**' (हितोपदेश १,८); स्मरणशक्ति, स्मरणशक्ति पर पड़नेवाला प्रभाव—'**संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।**' (तर्कसंग्रह); शुद्धि क्रिया, धार्मिक विधि-विधान—'**कार्यः शरीर-संस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च**' (मनुस्मृति, २,२७); अभिषेक, विचार, भावना, धारण, कार्य का परिणाम, क्रिया की विशेषता—'**फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव।**' (रघुवंश, १,२०) आदि अर्थों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'संस्कार' शब्द के साथ विलक्षण अर्थों का योग हो गया है, जो इसके दीर्घ इतिहास-क्रम में इसके साथ संयुक्त हो गए हैं। इसका अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जानेवाले अनुष्ठानों में से है, जिनसे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन सके। किंतु हिंदू संस्कारों में अनेक आरंभिक विचार, धार्मिक विधि-विधान, उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी समाविष्ट हैं, जिनका उद्देश्य मात्र औपचारिक दैहिक संस्कार ही न होकर संस्कारित व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि और पूर्णता भी है।

इससे यह समझा जाता था कि सविधि-संस्कारों के अनुष्ठान से संस्कारित व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है—**आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः।** (वीरमित्रोदय, संस्कारभाष्य, पृष्ठ १३२)

संस्कृति की भूमि पर 'संस्कार' आधारित है। 'संस्कार' ही हिंदू धर्म या संस्कृति के जन्म और उत्कर्ष का कारण एवं साधन हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक हिंदू के लिए संस्कृति की आधार-भूमि और व्यक्ति तथा समाज का विकास करनेवाले संस्कारों की विधिवत् जानकारी होना आवश्यक है।

संस्कार का सामान्य अर्थ है—संस्कृत करना या शुद्ध करना, उपयुक्त बनाना या सम्यक् करना आदि। किसी साधारण या विकृत वस्तु को विशेष क्रियाओं द्वारा उत्तम बना देना ही उसका संस्कार है। इस साधारण मनुष्य जीवत को विशेष प्रकार की धार्मिक क्रियाओं-प्रक्रियाओं द्वारा उत्तम बनाया जा सकता है, जिससे कि वह जीवन में परम उत्कर्ष को प्राप्त कर सके। ये विशिष्ट धार्मिक प्रक्रियाएँ ही 'संस्कार' हैं।

जिस प्रकार खान से सोना, हीरा आदि निकलने पर उसमें चमक, प्रकाश तथा सौंदर्य के लिए उसे तपाकर, तराशकर उसका मल हटाना एवं चिकना करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार मनुष्य में मानवीय शक्ति का आधान होने के लिए उसे सुसंस्कृत अर्थात् संस्कारवान् बनाने के लिए उसका पूर्णतः विधिवत् संस्कार-संपन्न करना आवश्यक है। विधिपूर्वक संस्कार-साधन से दिव्य ज्ञान उत्पन्न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करके आत्मा को परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करना ही 'संस्कार' है और मानव जीवन प्राप्त करने की सार्थकता भी इसी में है।

'संस्कार' मनुष्य को पाप और अज्ञान से दूर रखकर आचार-विचार और ज्ञान-विज्ञान से संयुक्त करते हैं। संस्कारों से आत्मा की शुद्धि होती है, विचार व कर्म शुद्ध होते हैं। इसीलिए 'संस्कारों' की आवश्यकता है। 'संस्कार' मुख्यत: तीन प्रकार के होते हैं—(१) मलापनयन, (२) अतिशयाधान और (३) न्यूनांगपूरक।

(१) मलापनयन—किसी दर्पण आदि पर पड़ी हुए धूल आदि सामान्य मल (गंदगी) को कपड़े आदि से पोंछना-हटाना या स्वच्छ करना 'मलापनयन' कहलाता है।

(२) अतिशयाधान—किसी रंग या तेजोमय पदार्थ द्वारा उसी दर्पण को विशेष रूप से प्रकाशमय बनाना या चमकाना 'अतिशयाधान' कहलाता है। दूसरे शब्दों में इसे भावना, प्रतियत्न या गुणाधान-संस्कार भी कहा जाता है।

(३) न्यूनांगपूरक—अनाज के भोज्य पदार्थ बन जाने पर दाल, शाक, घृत आदि वस्तुएँ अलग से लाकर मिलाई जाती हैं। उसके (अनाज के) हीन (कमीवाले) अंगों की पूर्ति की जाती है, जिससे वह अनाज (अन्न) रुचिकर और पौष्टिक बन सके। इसी तृतीय संस्कार को न्यूनांगपूरक संस्कार कहते हैं।

अत: गर्भस्थ शिशु से लेकर मृत्युपर्यंत जीव के मलों का शोधन, सफाई आदि कार्य विशिष्ट विधिक क्रियाओं व मंत्रों से करने को 'संस्कार' कहा जाता है।

मनुष्य के जीवन के तीन मुख्य आधार माने गए हैं—(१) उसकी चेतना शक्ति, जिससे जीवन मिलता है। शरीर में स्थित इसे ही 'आत्मा' कहा जाता है। यह आत्मा विश्वव्यापी परम चेतना शक्ति 'परमात्मा' का ही एक अंश है, जो आत्मा से भिन्न न होते हुए भी मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि के कारण भिन्न प्रतीत होने लगता है। इसी कारण इसे 'जीवात्मा' या 'जीव' कहा जाता है। यही चेतना-शक्ति वनस्पति से लेकर मनुष्य तक सभी के जीवन का आधार है। मनुष्य में इस चेतना का सर्वाधिक विकास हुआ है, इसीलिए यह प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ कहलाता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मनुष्य का दूसरा बड़ा आधार उसका 'मन' है। 'मन' इसी चेतना-शक्ति की एक विशेष रचना है, जो चेतना-शक्ति से सक्रिय होकर मनुष्य के सभी कर्मों का कारण बनता है। अत: मनुष्यकृत कर्मों का कारण चेतना-शक्ति (आत्मा) नहीं, अपितु 'मन' ही है। मनुष्य अपने जीवन में अच्छे-बुरे सभी कर्म 'मन' से ही करता है। बार-बार कर्म करने से वे ही कर्म उसकी आदतें बन जाती हैं। ये आदतें (स्वभाव) ही बीज रूप में उसके मन के गहरे स्तर पर जमा होती रहती हैं, जो मृत्यु के पश्चात् 'मन' के साथ ही सूक्ष्म शरीर में बनी रहती हैं और नया जन्म, नया शरीर धारण करने पर अगले जन्म में भी पिछले जन्मों के अनुसार उसी प्रकार के कर्म करने की प्रेरणा बन जाती हैं। इसे ही 'संस्कार' कहा जाता है।

ये 'संस्कार' ही प्रत्येक जन्म में संगृहीत (एकत्र) होते चले जाते हैं, जिससे कर्मों (अच्छे-बुरे दोनों) का एक विशाल भंडार बनता जाता है। इसे 'संचित कर्म' कहते हैं। इन संचित कर्मों का कुछ भाग एक जीवन में भोगने के लिए उपस्थित रहता है और यही जीवन में प्रेरणा का कार्य करता है। अच्छे-बुरे संस्कार होने के कारण मनुष्य अपने जीवन में अच्छे-बुरे दोनों कर्म करता है। फिर इन कर्मों से अच्छे-बुरे नए संस्कार बनते रहते हैं तथा इन संस्कारों की एक अंतहीन श्रृंखला बनती चली जाती है, जिससे मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

हिंदू दर्शन के अनुसार, मृत्यु के बाद मात्र यह भौतिक शरीर या देह ही नष्ट होती है, जबकि सूक्ष्म शरीर जन्म-जन्मांतरों तक आत्मा के साथ संयुक्त रहता है। यह सूक्ष्म शरीर ही जन्म-जन्मांतरों के शुभ-अशुभ संस्कारों का वाहक होता है। ये संस्कार मनुष्य के पूर्वजन्मों से ही नहीं आते, अपितु माता-पिता के संस्कार भी रज और वीर्य के माध्यम से उसमें (सूक्ष्म शरीर में) प्रविष्ट होते हैं, जिससे मनुष्य का व्यक्तित्व इन दोनों से हीं प्रभावित होता है। बालक के गर्भ-धारण की परिस्थितियाँ भी इन पर प्रभाव डालती हैं। गर्भ-धारण के समय माता-पिता की मानसिकता व शारीरिक स्वास्थ्य का प्रभाव भी बालक पर पूर्णरूप से पड़ता है। 'सुश्रुत संहिता' में कहा गया है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आहारचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥

(सुश्रुत संहिता, शारीरस्थान, २/४६/५०)

—अर्थात् 'स्त्री और पुरुष जैसे आहार, व्यवहार तथा चेष्टा से संयुक्त होकर परस्पर समागम करते हैं, उनका पुत्र भी वैसे ही स्वभाव का होता है।'

पूर्व जन्मों के 'संचित संस्कार', जो वर्तमान जीवन में प्रकट होकर अपना प्रभाव दिखलाते हैं, उसे प्रारब्ध कहते हैं तथा वर्तमान जीवन में किए जानेवाले कर्मों को 'पुरुषार्थ' कहते हैं। 'पुरुषार्थ' हमेशा 'प्रारब्ध' से प्रबल होता है। अतः पूर्व जन्मों के अशुभ संस्कारों को परिवर्तित किया जा सकता है। पुरुषार्थहीन व्यक्ति पूर्व जन्म के संस्कारों से बँधा रहता है, जबकि पुरुषार्थी उस कर्म-बंधन संस्कार की शृंखलाओं को तोड़ देते हैं।

मनुष्य जीवन का तीसरा आधार उसका शरीर है, जिसके द्वारा उसके सभी कर्म संपन्न होते हैं। मनुष्य के सभी कर्मों का कारण मन है, किंतु उसकी क्रिया शरीर के माध्यम से ही होती है। इसीलिए शरीर के रक्षण व पोषण के लिए भारतीय चिंतन में प्रमुखता दी गई है तथा कहा गया है—**'शरीरमाध्यं खलु धर्म साधनम्।'**

धर्म की साधना में निश्चित रूप से शरीर एक माध्यम है। साधन के अभाव में साध्य की उपलब्धि संभव ही नहीं। अतः शरीर एवं मन इन दोनों के परिष्कार से ही चेतना-शक्ति (आत्मा) का विकास किया जा सकता है और इन दोनों के 'संस्कार' के लिए भारतीय धर्म-दर्शन में 'संस्कारों' की महत्ता सुनिश्चित की गई है।

एक व्यक्ति के विचार एवं व्यवहार दूसरे व्यक्ति के विचार एवं व्यवहार से भिन्न होते हैं। इस विभिन्नता का कारण यही है कि वे पूर्व जन्मों में विभिन्न वातावरण व परिवेश से होकर आए हैं। बालक पूर्व जन्म के इन्हीं संस्कारों को लेकर उत्पन्न होता है, जो पूर्वजन्म के वातावरण व परिवेश मिलने पर विकसित हो जाते हैं, अन्यथा सुप्तावस्था में रहते हैं। उदाहरणार्थ, किसी अनाज का बीज विपरीत मौसम व वातावरण में न तो उगता है और न ही पल्लवित-पुष्पित होता है। वह धरती में यों ही पड़ा रहता है। जब उसे उचित मौसम, उचित वातावरण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की प्राप्ति होती है तो उसमें अंकुर फूटते हैं और वह पल्लवित व अन्नदायक हो जाता है।

इन जन्मजात अशुभ संस्कारों का परिशोधन करके उन्हें उत्तम संस्कारों में परिवर्तित करने के लिए ही हिंदू धर्म में संस्कार-विधियों का प्रयोग व महत्त्व बताया गया है, जो वैदिक ऋषियों के गहन चिंतन का परिणाम है। मनुष्य की शारीरिक मानसिक व आत्मिक उन्नति के लिए इन संस्कारों का विशेष महत्त्व है। इन संस्कारों को गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यंत करने की पूरी व्यवस्था दी गई है। यद्यपि ये संस्कार अनेक ऋषियों ने अनेक प्रकार के गिनाए हैं, किंतु इसमें सोलह संस्कारों को ही प्रमुख माना गया है।

यदि 'संस्कार' शब्द के प्रयोग की प्राचीनता को देखें तो सर्वप्रथम मीमांसाकार जैमिनी ने 'संस्कार' शब्द का प्रयोग 'उपनयन' के अर्थ में किया है (३.१.३)। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए शबरस्वामी ने लिखा है कि 'संस्कार' वह है, जिसके होने से कोई व्यक्ति या पदार्थ किसी कार्य के लिए योग्य बनता है—**'संस्कारो नाम स भवति यस्मिन्नजातो पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य।'**

इस प्रकार 'संस्कार' शब्द का अर्थ है—दोषों का परिमार्जन करना। जीव के दोषों और कमियों को दूर करके उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों के योग्य बनाना ही संस्कार करने का उद्देश्य है। संस्कार दोषों का परिमार्जन या शुद्धीकरण किस प्रकार करता है, कैसे और किस रूप में उसकी प्रतिक्रिया होती है—इसका विश्लेषण करना कठिन है; किंतु 'संस्कारों' के परिणाम अर्थात् उनके फल को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, आँवले के चूर्ण में आँवले के रस की भावना देने से वह कई गुना शक्तिशाली बन जाता है, यह आयुर्वेदिक अनुभव की प्रत्यक्ष बात है। यही बात संस्कारों पर भी लागू होती है। मानव शरीर पाकर जीव उचित पुरुषार्थ द्वारा साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप भी हो सकता है। श्रीराम व श्रीकृष्ण इसके उदाहरण हैं। अतः दीर्घ जीवन और प्रखर प्रज्ञा प्राप्त करने के लिए संस्कारों की आवश्यकता है।

'संस्कार' में शारीरिक एवं मानसिक दोषों का मार्जन, शुद्धीकरण होता है तथा आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति सहज ही होती है। मानव जीवन का यही चरम लक्ष्य है। महर्षि आश्वलायन ने एक दृष्टांत देकर इसे समझाने का प्रयास

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किया है, जो इस प्रकार है—

चित्रं कर्म यथाऽनेकैरंगैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपिं तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः।

—अर्थात् 'जिस प्रकार किसी रेखाचित्र पर विभिन्न रंगों से बार-बार तूलिका फेरते रहने से उसमें एक विचित्र चमक एवं सजीवता-सी आ जाती है, ठीक उसी प्रकार संस्कारों द्वारा द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य) में विशेष गुणों का आधान होता है।'

खान से निकलने पर रत्नों पर गंदगी व धूल आदि की अनेक परतें (तहें/स्तर) जमी रहती हैं, जिनसे उनकी चमक छिपी रहती है। जब सान पर रखकर वे खरादे जाते हैं, तब उनकी वह चमक निखर उठती है। उसी तरह मानव शिशु में भी गर्भ एवं बीज संबंधी तथा उनके जन्मों के कर्मजनित मलिनता आदि दोष उपस्थित रहते हैं। संस्कारों का काम यह है कि वे उन दोषों को दूर करके जीव की चमक को निखार देते हैं। बिना संस्कार के जिस प्रकार रत्नों की विशेषताएँ दबी-छिपी रहती हैं, उसी तरह बिना संस्कार के बालकों के दोष का मार्जन नहीं होता और देव तथा पितरों के कर्मों में योग्यता नहीं बनती। जब तक बीज एव गर्भ संबंधी दोषों को दूर नहीं किया जाता तथा मानव शुद्ध नहीं होता और जब तक शुद्ध नहीं होता तब तक वह हव्य-कव्य देने का अधिकारी नहीं बनता, ऐसा ब्राह्मण ग्रंथों का कथन है—

'न वा अनार्षेयस्य देवा हविरश्नन्ति।' (कौषीतकि ब्राह्मण, ३/२६)

'न ह वा अव्रतस्य देवा हविरश्नन्ति।' (ऐतरेय ब्राह्मण, ७/१२)

'संस्कार' से तप द्वारा पापों या दोषों के परिमार्जन की योग्यता और नवीन गुणों को उत्पन्न करने की क्षमता प्राप्त होती है। गर्भाशय में प्रविष्ट होने पर जीव में जो प्राकृतिक या आगंतुक दोष प्रविष्ट होते हैं, उनके मोचन (नष्ट होने) की क्षमता और उपनयन तथा वेदाध्ययन आदि क्रियाओं द्वारा नवीन गुणों के उत्पन्न करने की योग्यता अर्जित होती है।

इस सृष्टि में जितनी भी वस्तुएँ (पदार्थ) हैं, सभी प्राकृत हैं और अपने गुण-धर्मों के अनुसार उपस्थित हैं। मनुष्य उनका उपयोग उन्हें अपने अनुकूल बनाकर ही करता है। हवा-पानी आदि कुछ प्राकृत वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनको

70685

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मनुष्य उनके प्रकृत (स्वाभाविक) रूप में ही ग्रहण करता है; किंतु अन्न, वस्त्र आदि कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनको मनुष्य अपनी अभिरुचि के अनुसार उपयुक्त बनाकर उपयोग में ले आता है। सृष्टि में जितनी भी वस्तुएँ हैं, सबकी यही स्थिति है।

□

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

२

संस्कारों का विकास

'संस्कार' हिंदू धर्म अथवा किसी भी धर्म या संप्रदाय के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इतिहास के आरंभ से ही ये धार्मिक तथा सामाजिक एकता के प्रभावकारी माध्यम रहे हैं। इनका उदय प्राचीन आदिम काल में हुआ था और वे कालक्रम से अनेक परिवर्तनों के साथ आज भी जीवित हैं। हिंदू संस्कारों का वर्णन वेदों के कुछ सूक्तों, कुछ ब्राह्मण ग्रंथों, गृह्य तथा धर्मसूत्रों, स्मृतियों एवं परवर्ती निबंध ग्रंथों और पुराणों में पाया जाता है। ये ग्रंथ विभिन्न युगों तथा स्थानों में उद्‌गार, विधि अथवा पद्धति के रूप में लिखे गए।

ये संस्कार मुख्यत: धार्मिक विश्वासों और सामाजिक परिस्थितियों पर आधारित थे, जो मूल में तो प्राकृतिक थे, किंतु बाद में देश-काल और परिस्थिति के अनुसार क्रमश: सांस्कृतिक होते गए। संस्कारों के ढाँचे में बहुत से सांस्कृतिक साधन भी आ गए, जो धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम हो गए और संस्कारों के उद्‌देश्य में मदद करने लगे।

वास्तव में संस्कार व्यंजनात्मक तथा प्रतीकात्मक अनुष्ठान हैं। इनमें बहुत से नाटकीय संवाद और धार्मिक विज्ञान से संबंधित संकेत भी हैं, जिन्हें ठीक से न समझ पाने के कारण बुद्धिवादी इन्हें व्यर्थ व आधारहीन मानते हैं। उन जैसों के लिए संस्कारों की व्याख्या को समझाना आवश्यक है।

मनुष्य तथा अदृश्य आध्यात्मिक शक्तियों के बीच माध्यम के रूप में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संस्कारों के अनेक तत्त्वों का विकास हुआ था। ऐसा विश्वास था कि ये शक्तियाँ मानव जीवन में हस्तक्षेप तथा उनको प्रभावित करती हैं। इसलिए विविध सांस्कृतिक, धार्मिक व सामाजिक अवसरों पर उनके अनुकूल प्रभावों को निमंत्रण देना आवश्यक समझा जाता था। संस्कारों का उद्देश्य व्यक्तित्व के विकास द्वारा मनुष्य के कल्याण और समाज तथा विश्व से उसका सामंजस्य स्थापित करना था।

संस्कारों के अंगभूत विधि-विधान, कर्मकांड, आचार, प्रथाएँ आदि प्राय: सार्वभौम हैं और संसार के अनेक देशों में पाई जाती हैं। हाँ, उनकी पद्धति और कृत्य में अंतर अवश्य है; किंतु उन संस्कारों का आधुनिक जीवन में पर्याप्त प्रतिनिधित्व है। आधुनिक उपयोगिता की दृष्टि से देखने पर हिंदू संस्कारों के अनेक संस्कार असंगत, अव्यावहारिक, अनुपयोगी और उपहासनीय प्रतीत होते हैं; किंतु जो व्यक्ति प्राचीन जीवन और संस्कृति के सामान्य सिद्धांतों को समझने की क्षमता, धैर्य और रुचि रखता है, वही इन संस्कारों के औचित्य को समझ सकेगा। उसको लगेगा, वह महसूस करेगा कि संस्कार संबंधी विश्वास तथा प्रथाएँ अन्य विश्वास, जादू-टोना तथा पुरोहितों की कला पर आधारित नहीं हैं, अपितु वे परस्पर सुसंगत तथा युक्तिपूर्ण हैं।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भी संस्कारों का जानना उनका अनुसरण व अनुकरण करना महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि प्रत्येक समाज अपने जीवन के विचार, मूल्यों तथा धारणाओं को सजीव व सुरक्षित रखने के लिए संस्कारों के प्रति निष्ठा और विश्वास पैदा करता है। इस कार्य के लिए सामाजिक तथा धार्मिक प्रेरणा एवं अनुशासन की जरूरत होती है। ये संस्कार ऐसी प्रेरणा और अनुशासन के सुदृढ़ व सफल माध्यम हैं; क्योंकि किसी भी सामाजिक नियम या व्यवस्था के पीछे सहस्राब्दियों का संस्कार काम करता है। देश, जाति व धर्म के मूल्यों और प्रतिमानों के प्रति आस्था व विश्वास उत्पन्न करने के लिए प्रयासपूर्वक संस्कार करना पड़ता है, तभी सामाजिक नीति और मूल्यों का विकास होता है। हिंदुओं की सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक दृढ़ता की पृष्ठभूमि में अनिवार्य संस्कार ही कार्य करते हैं।

'संस्कार' दो प्रकार से समाज को प्रभावित करते हैं—(१) सिद्धांत तथा (२) अभ्यास। 'सिद्धांत' से धीरे-धीरे विचारों तथा विश्वासों का रूप स्थिर होता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है तथा नियामक विधियों से यह प्रभाव सुदृढ़ होता है। एक सिद्धांत के औचित्य और उसके प्रति कर्तव्य की प्रेरणा या धारणा मनुष्य को अपने पथ से विचलित नहीं होने देती, क्योंकि संस्कार जीवन के प्रत्येक मोड़ पर व्यक्ति को चेतावनी देते हैं। व्यक्ति कभी-कभी संस्कारों के किसी अंग विशेष की तो उपेक्षा कर सकता है, किंतु उन संस्कारों से जिस वातावरण की सृष्टि हो चुकी होती है, उसकी उपेक्षा या अवहेलना वह नहीं कर सकता।

'संस्कार' व्यक्ति में विशेष प्रकार का अभ्यास भी डालते हैं। ये अभ्यास मन पर अचेतन रूप से धीरे-धीरे प्रभाव डालते हैं। इनसे व्यक्ति स्वाभाविक रूप से अपने को सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं के अनुरूप बना लेता है। अभ्यास जीवन के प्रतिमानों का ढाँचा तैयार करता है। इस प्रकार सिद्धांत और अभ्यास दोनों मिलकर सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक नीति के प्रति दृढ़ता व आस्था उत्पन्न करते हैं। यदि ये न होते तो परिवार और विवाह जैसी सामाजिक संस्थाओं का विकास नहीं हुआ होता।

संस्कार जीवन के विभिन्न अवसरों को महत्त्व और पवित्रता प्रदान करते हैं। वे इस बात पर जोर देते हैं कि जीवन के विकास का प्रत्येक चरण केवल शारीरिक क्रिया नहीं, अपितु इसका संबंध मनुष्य की बुद्धि, भावना और आत्मिक अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) से है, जिनके प्रति व्यक्ति को सचेष्ट व जागरूक रहना चाहिए। संस्कारों के अभाव में जीवन की घटनाएँ शरीर की दैनिक आवश्यकताओं और आर्थिक व्यापार की भाँति अनाकर्षक, चमत्कारविहीन और जीवन के भावनात्मक संगीत से शून्य हो जाती हैं।

यह वास्तविकता है कि संस्कारों के क्रियाकलाप संबंधी कृत्यों का सामान्य जनसाधारण पर अधिक प्रभाव पड़ता है और बुद्धिवादी जन पर बुद्धिवादी युग में उसके महत्त्वहीन हो जाने की आशंका अधिक होती है; क्योंकि कभी-कभी संस्कारों का बाह्य आडंबर उसके उद्देश्यों और प्रयोजनों को अधिक ढक लेता है। इसके कारण आधुनिक बुद्धिवादी जन या आलोचक संपूर्ण धार्मिक विधि-विधानों को ही आडंबर और भ्रष्टाचार मानने लगते हैं तथा संस्कारों से दूर होते चले जाते हैं।

संस्कार की 'औपचारिक पद्धति' अवसरों और घटनाओं को अपौरुषेय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

महत्त्व व पवित्रता प्रदान करती है, जो व्यक्ति विशेष की दुर्बलताओं एवं सीमाओं से मुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ, विवाह के अवसर पर कन्या और वर केवल एक स्त्री और पुरुष नहीं होते, अपितु संपूर्ण स्त्रीत्व और पुरुषत्व के प्रतीक बन जाते हैं। इस प्रकार उनका संबंध संपूर्ण स्त्री जाति और पुरुष जाति के संबंध का द्योतक (प्रतीक) है।

संस्कारों के साथ मूल्यगर्भित विश्वास और विचार लगे होते हैं, जिनके लिए मनुष्य जीना चाहता है। इन्हीं विश्वासों और विचारों में समाज की नींव है और यहीं से उनको जीवन-शक्ति या पोषण मिलता है। सामाजिक विनम्रता, शक्ति और स्वतंत्रता, धार्मिक चिंतन, सांस्कृतिक चेतना सभी का स्रोत ये 'संस्कार' ही होते हैं। संस्कारों की प्रतीकात्मकता उनमें अपूर्व शक्ति उत्पन्न करती है, जो किसी भी उपयोगितावादी विधानों में संभव ही नहीं है। इसीलिए प्रत्येक समाज पुराने प्रतीकों का उपयोग करता है और आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुसार नए प्रतीकों का निर्माण भी करता है।

प्रत्येक 'प्रतीक' किसी-न-किसी गुप्त अर्थ, मूल्य, विचार या भावना की भाषा, संकेत, मुद्रा अथवा भौतिक पदार्थ के रूप में बाहरी अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) होता है, जो संस्कारित व्यक्ति की बुद्धि व भावना को आलोड़ित करके समाज से उसे जोड़ता है। 'प्रतीक' विभिन्न अवसरों पर ध्यान का केंद्र, भाव ढोने (वहन) का माध्यम और सामूहिक अनुभव का माध्यम होता है। इसीलिए 'संस्कार' के विधि-विधानों में प्रतीकों का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, जिसे आधुनिक बुद्धिवादी आडंबर आदि से विभूषित करते हैं।

प्राचीन युग में गर्भाधान से लेकर अंत्येष्टि तक के संस्कार थे, जो व्यक्ति के जीवन के विविध अवसरों पर संपन्न किए जाते थे। उनका कार्य-स्थल था 'गृह', मुख्य नायक था गृहपति और उस संस्कार का साक्षी होता था अग्नि। संस्कारों में श्रौत यज्ञ और गृह्य संस्कार प्रमुख थे। श्रौत यज्ञ या संस्कार के अनुष्ठान के लिए ऋत्विजों की आवश्यकता होती थी, जिसमें गृहपति या गृहस्वामी ऋत्विजों के निर्देशानुसार मूकदर्शक बनकर रह जाता था। ऋत्विज् ही प्रधान हो जाते थे।

वस्तुतः श्रौत संस्कार 'काम्य' थे—अर्थात् उनके करने या न करने में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

व्यक्ति को छूट या स्वतंत्रता थी; लेकिन गृह्य संस्कार नित्य और अनिवार्य थे। इनका मानव जीवन के विकास और प्रवाह का क्रम प्रकृति से प्रभावित था, जिनसे होकर मनुष्य को जाना ही पड़ता था। मनुष्य के जीवन संसरण को सरल और सुगम बनाना ही संस्कारों का उद्देश्य था और वर्तमान में भी है।

इस प्रकार मानव जीवन में संस्कारों की महत्ता और उपादेयता से इनकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में देश-काल और परिस्थिति के अनुसार सबकुछ परिवर्तनशील है; किंतु उसका पूर्णतः त्याग संभव नहीं है। संस्कार भी इस नियम के अपवाद नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनका निर्धारण भी देश-काल और परिस्थिति के अनुसार ही परिवर्तित व परिवर्द्धित होता रहा है। वर्तमान में भी प्रमुख सोलह संस्कारों में अनेक संस्कार नहीं किए जा रहे हैं या किसी संस्कार विशेष के साथ ही उन्हें जोड़ दिया जा रहा है या उनके स्वरूप में परिवर्तन हो गया है अथवा वे मात्र प्रतीक रूप में संपन्न कर दिए जा रहे हैं। आगे के अध्यायों में इनकी यथास्थान चर्चा की जाएगी।

□

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

३

संस्कारों के प्रयोजन या उद्देश्य

हिंदू धर्म के संस्कारों का प्रयोजन क्या था? वे क्यों किए जाते थे? यह आज भी चिंतन-मनन का विषय है। सामान्यतः संस्कारों के प्रयोजन या उद्देश्य को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है, प्रथम वर्ग—मनुष्य के सरल विश्वास तथा निश्छल मन की स्वाभाविक सरलता पर आधारित है और दूसरा वर्ग कर्मकांड व संस्कृति पर आधारित है। दोनों प्रकार के ये संस्कार अत्यंत प्राचीन समय से ही समाज में व्यवहार में लाए जाते रहे हैं।

प्राचीन हिंदुओं का यह विश्वास था कि वातावरण में चारों ओर अति मानुषी प्रभाव व्याप्त हैं, जिनमें भला और बुरा करने की क्षमता है। ये प्रभाव जीवन के महत्त्वपूर्ण अवसरों पर, व्यक्ति के जीवन पर अपना अच्छा या बुरा प्रभाव डालकर हस्तक्षेप कर सकते हैं। इसलिए अमंगलकारी प्रभावों के निराकरण तथा लाभकारी प्रभावों की प्राप्ति के लिए देवों तथा दिव्य शक्तियों से सहायता व निर्देश प्राप्त करने की उत्कट इच्छा ही संस्कारों के मूल में निहित है।

अवांछित प्रभावों को दूर करने के लिए हिंदुओं ने अपने संस्कारों के अंतर्गत अनेक साधनों का सहारा लिया। उनमें प्रथम स्थान आराधना का था। इसके अंतर्गत भूतों, पिशाचों एवं अन्य अशुभ शक्तियों की स्तुति की जाती थी, उन्हें बलि व भोजन दिया जाता था, जिससे वे तृप्त हों और बिना किसी प्रकार की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

क्षति पहुँचाए लौट जाएँ। विघ्ननाशक गणपति की कल्पना का श्रीगणेश संभवत: यहीं से हुआ।

गृहस्थ अपनी पत्नी और बच्चों की रक्षा के लिए चिंतित रहता था और भूत-पिशाचों से बचना अपना कर्तव्य समझता था। स्त्री के गर्भिणी होने के समय, शिशु के जन्म व शैशव आदि के समय प्रार्थनाएँ की जाती थीं। यदि शिशु पर रोग उत्पन्न करनेवाला भूत आक्रमण कर देता है तो शिशु का पिता कहता है—'शिशुओं पर आक्रमण करनेवाले कुर्कुर, सुकुर्कुर! इस शिशु को मुक्त कर दो। हे सीसर! मैं तुम्हारे प्रति आदर प्रकट करता हूँ, आदि' (पारस्कर गृह्य सूत्र)।

भूत-पिशाच आदि से बचने के लिए दूसरा उपाय था कि उनको बहका दिया जाए। ऐसी स्थिति आराधना या प्रार्थना की नहीं होती थी। वह युक्ति का सहारा लेता था। उदाहरण के लिए, मुंडन या यज्ञोपवीत या केशांत के समय मुंडित बालों को गाय के गोबर के पिंड में ढककर गोशाला में गाड़ दिया जाता था अथवा नदी या तालाब में फेंक दिया जाता था, ताकि कोई अनिष्टकारी आत्मा या भूत-पिशाच उन बालों की उस राशि पर अपने चमत्कारी प्रयोग न कर सके—**'अनुगुप्तयेतं सकेशं गोमयपिण्डं निधाय गोष्ठं पल्वलमुदकान्ते वा।'** (पारस्कर गृह्य सूत्र, २.१.२०)

बहकाव की यह प्रक्रिया अंत्येष्टि के कृत्यों में भी की जाती थी। किसी व्यक्ति की मृत्यु के पूर्व मरणासन्न व्यक्ति की प्रतिकृति का दाह कर दिया जाता था, ताकि मृत्यु या यमदूत जब मरणासन्न व्यक्ति पर आक्रमण करें तो तथाकथित मृत व्यक्ति (प्रतिकृति) के कारण भ्रम में पड़ जाएँ। (कौषीतकि सूत्र, ४८.५४, ५९ तथा आगे भी) किंतु जब आराधना, बहकावा भी अपर्याप्त सिद्ध हुए तो तीसरा उपाय किया जाता था। इसमें शक्तियों की भर्त्सना करते हुए उन्हें दूर भाग जाने या हट जाने को कहा जाता था; यथा—जातकर्म संस्कार के समय शिशु का पिता कहता था—**'हे शंड, अमर्क, उपवीर, शौंडिकेय, उलूखल, मलिम्लुच, द्रोणास और च्यवन! तुम सब यहाँ से अदृश्य हो जाओ, स्वाहा।'** (पारस्कर गृह्य सूत्र, १.१६.१९, आपस्तम्ब गृह्य सूत्र, १.१५)

गृहस्थ देवों और देवताओं से प्रार्थना करता था कि वे अशुभ प्रभावों को दूर करें। चतुर्थी कर्म के अवसर पर पति अपनी नवविवाहिता के घातक तत्त्वों के

S.P.S. Library Srinagar
CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निवारण के उद्देश्य से अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र तथा गंधर्व का आह्वान करते हुए कहता था—'**अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाशकाम उपधावामि याऽस्ये पतिघ्नी तनूस्तामस्यै नाशय स्वाहा।**' आदि (पारस्कर गृह्य सूत्र, १,११.२.२.१-५)

किंतु कभी-कभी जल और अग्नि द्वारा वह स्वयं भी उक्त अशुभ शक्तियों को आतंकित करके दूर हटा देता था। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए अन्य उपाय भी काम में लाए जाते थे।

जल का उपयोग प्राय: प्रत्येक संस्कारों में बहुलता से किया जाता था। क्योंकि जल दैहिक अशौच (अपवित्रता) को धोता है तथा भूत-पिशाचों से रक्षा करता है। शतपथ ब्राह्मण में जल को राक्षसों का नाशक कहा गया है—'**आपो हि वै रक्षोघ्नी।**' इसी प्रकार अवांछित शक्तियों को आतंकित करने के लिए कभी-कभी व्यक्ति स्वयं ही अपनी दृढ़ता व शक्ति प्रदर्शित करते हुए मार्ग में आनेवाले किसी भी अमंगल की आशंका से स्वयं को अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर लेता था। उदाहरणार्थ, विद्यार्थी दंड धारण करता था। वह इस दंड को छोड़ नहीं सकता था। विद्यार्थी जीवन (ब्रह्मचर्य आश्रम) समाप्त होने पर जब इस दंड का त्याग किया जाता था, तब समावर्तन संस्कार के समय इससे दृढ़ वंशदंड को धारण करता था—'**वैष्णवं दण्डमादत्ते।**' (पारस्कर गृह्य सूत्र, २,६,२६)। इस दंड के बारे में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पशुओं और मानव शत्रुओं से ही नहीं, राक्षसों और पिशाचों से भी रक्षा करने में यह उपयोगी है—'**विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्यरिपाहि सर्वत इति।**' (पारस्कर गृह्य सूत्र, २,६,२६)

सीमंतोन्नयन संस्कार के अवसर पर स्त्री के केशों को इसी उद्देश्य से सँवारा जाता था, ताकि उसके केशों में जो अशुभ शक्तियाँ हैं, वे निकल जाएँ। कभी-कभी व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत होकर इन अमंगलकारी शक्तियों को अपने ऊपर से हटाकर दूसरे व्यक्ति की ओर भी संक्रमित करने की चेष्टा करता था। उदाहरण के लिए, नववधू द्वारा धारण किए गए वैवाहिक वस्त्र ब्राह्मण को दान कर दिए जाते थे, क्योंकि वे वधू के लिए घातक समझे जाते थे। उस समय यह धारणा थी कि ब्राह्मण इतना सशक्त है कि उस पर अशुभ शक्तियाँ आक्रमण नहीं कर सकतीं। कभी-कभी वैवाहिक वस्त्रों को गोशाला में खूँटी पर रख दिया जाता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

था या किसी वृक्ष पर टाँग दिया जाता था। (अथर्ववेद, १४,२,४८-५०; कौशिक सूत्र; ७६,१,७९,२४१)

जिस प्रकार अशुभ प्रभावों से बचाव का प्रयास किया जाता था, उसी प्रकार किसी भी संस्कार के अवसर पर संस्कार्य (संस्कारित होनेवाले) व्यक्ति के हित के लिए शुभकारी प्रभावों को आमंत्रित और आकर्षित किया जाता था। हिंदुओं का विश्वास था कि जीवन का प्रत्येक क्षण, अवसर, संस्कार आदि किसी-न-किसी देवता द्वारा अधिष्ठित है। इसलिए ऐसे प्रत्येक अवसर पर संस्कारित होनेवाले व्यक्ति को आशीष देने के लिए संबंधित देवता का आवाहन या उद्बोधन किया जाता था। उदाहरणार्थ, गर्भाधान के समय के देवता विष्णु, विवाह के समय के देवता प्रजापति और उपनयन के देवता बृहस्पति हैं। अतः उक्त अवसरों पर इन देवताओं का आवाहन अनिवार्य था।

तत्कालीन मनुष्य मात्र देवताओं पर ही आश्रित नहीं था। वह विविध उपायों से, पदार्थों से तथा मंगलकारी पदार्थों से साम्य रखनेवाली वस्तुओं से अपनी सहायता करता था। शुभ वस्तुओं का स्पर्श करने से भी वे मंगल की आशा रखते थे। यथा—सीमंतोन्नयन के अवसर पर उदुंबर (गूलर) वृक्ष की शाखा का पत्नी के गले से स्पर्श कराया जाता था। यह विश्वास था कि उसके स्पर्श से स्त्री में संतति-प्रजनन की क्षमता आ जाती है—**'औदुम्बरेण त्रिवृत्तमाबध्नाति-अयमूर्ज्जावतोः वृक्षः उज्जीर्व फलिनी भव।'** (पारस्कर गृह्य सूत्र, १,१५,४.६; गौभिल गृह्यसूत्र, २,७,१)

विवाह संस्कार के समय शिलारोहण कृत्य से वे मानते थे कि ऐसा करने से पति-पत्नी के संबंधों में दृढ़ता आती है। अतः ब्रह्मचारी और वधू के लिए उसका विधान कर दिया गया। हृदय-स्पर्श क्रिया ब्रह्मचारी, आचार्य तथा पति-पत्नी के बीच ऐक्य और सामंजस्य स्थापित करने का एक निश्चित उपाय समझा जाता था। इसी तरह 'श्वास' जीवन का प्रतीक समझा जाता था। इसलिए पिता अपने नवजात शिशु पर जातकर्म संस्कार के अवसर पर उसके श्वास-प्रश्वास को दृढ़ करने के लिए तीन बार फूँकता था।

पुत्र-प्राप्ति की इच्छुक माता को दधि मिला हुआ द्विदल (जिन अनाजों में दो दल होते हैं—अर्थात् दाल) धान्यों के साथ जौ का एक दाना (बीज) खाना

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आवश्यक था। इसका कारण यह था कि स्त्री जिन वस्तुओं को ग्रहण करती थी, वे पुरुष अन्न का प्रतीक थीं। अतः उसके गर्भ में पौरुष गर्भ की स्थापना करने की आशा की जाती थी। संतति-प्रजनन के लिए पत्नी की नाक के दाएँ छेद में विशाल दूरव्यापी जड़वाले वट वृक्ष का रस छोड़ा जाता था। विवाह के अवसर पर 'समंजन' क्रिया से स्त्री-पुरुष में परस्पर प्रेम उत्पन्न होने की धारणा थी। विवाह-संस्कार के अवसर पर जब वर समस्त देवों तथा जल आदि से दंपत्ति के हृदयों में ऐक्य और प्रेम जाग्रत् करने की प्रार्थना करता था और वधू का पिता उन दोनों का 'समंजन' करता था—

अथैनौ समञ्जयति—'**समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ। सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ।**' (पारस्कर गृह्य सूत्र, १,४.१५ तथा गोभिल गृह्य सूत्र, २.१.१८)

यह धारणा थी कि कुरूप और अशुभ दृश्यों के निवारण तथा अपवित्र व्यक्तियों से संबंध तोड़ लेने से पवित्रता सुरक्षित रहती है। इसी प्रकार स्नातक के लिए अशुभ अक्षरों से प्रारंभ होनेवाले शब्दों का उच्चारण या दूषित विचारों को मस्तिष्क में लाना भी निषिद्ध था। स्नातक गर्भिणी स्त्री को विजन्या, नकुल को सकुल और कपाल को भगाल कहता था। **गर्भिणीं विजन्येति ब्रूयात्। सकुलमिति नकुलं भगालमिति कपालम्।** (पारस्कर गृह्य सूत्र, २/७//११-१३ तथा आश्वलायन गृह्य सूत्र, ३,९,६)। संस्कारों के समय कभी-कभी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए नाटकीय ढंग से भी कुछ बातें पूछी जाती थीं। सीमंतोन्नयन संस्कार के अवसर पर पत्नी को चावल के ढेर की ओर देखने के लिए कहा जाता था और तब पति उससे पूछता था—संतान, पशु, सौभाग्य और मेरे लिए दीर्घायु—इनमें से तुम क्या देख रही हो—**किं पश्यसि प्रजां पशून् सौभाग्यं मह्य दीर्घायुष्यं पत्युः।** (सामवेद मंत्र ब्राह्मण, १,५,१-५)

संस्कारों का भौतिक प्रयोजन भी था। धन, धान्य, पशु, संतान, दीर्घ जीवन, संपत्ति, समृद्धि, शक्ति और बुद्धि की प्राप्ति भी इनके उद्देश्य थे। ये संस्कार क्योंकि गृह्य कृत्य थे, इसलिए इनके अनुष्ठान के लिए घरेलू जीवन की आवश्यक सभी वस्तुओं के प्राप्त होने की कामना देवों से की जाती थी। यह विश्वास किया जाता था कि देवता व्यक्ति की इच्छाओं व कामनाओं को जान जाते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हैं और पशु, धन, संतान, अन्न, स्वास्थ्य, सुंदर शरीर और तीक्ष्ण बुद्धि प्रदान करते हैं। सप्तपदी के अवसर पर निम्नलिखित ऋचा का उच्चारण किया जाता था— **'एकमिषे विष्णुस्त्वा नयतु द्वे ऊर्जे त्रीणि शस्यपोषाय चत्वारि मायोभवाय पञ्च पशुभ्यः षड् ऋतुभ्यः।'** (शांखायन गृह्य सूत्र, १.१४.५)

गृहस्थ सर्वदा न तो भयभीत रहता था और न ही देवताओं से प्रार्थी बना रहता था। वह जीवन की विभिन्न घटनाओं के कारण होनेवाले हर्ष, आनंद और यहाँ तक कि दुःख प्रकट करने के लिए भी संस्कारों का अनुष्ठान करता था। संतान-प्राप्ति लुभानेवाली बात थी, अतः उस समय पिता-माता व परिवार को असीम आनंद होना स्वाभाविक ही था। 'विवाह' मानव जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण उत्सव का अवसर था। शिशु के बढ़ने और उसके विकास के प्रत्येक अवसर पर परिवार को संतोष व हर्ष का अनुभव होता था। 'मृत्यु' शोक का अवसर था, जो चारों ओर करुणा का भाव एवं दृश्य उपस्थित कर देता था। अतः अपने हर्ष व उल्लास के भावों को व्यक्ति सजावट, संगीत, भोजन आदि एवं उपहारों के रूप में प्रकट करता था तथा शोक भाव अंत्येष्टि-कृत्य में होती थी।

सांस्कृतिक प्रयोजन भी 'संस्कारों' के अनिवार्य तत्त्व हैं। मनु का कथन है कि गर्भाधान के अवसर पर किए जानेवाले गार्भ-होम, जातकर्म, चूडाकर्म और मौंजीबंधन (उपनयन) संस्कार से द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के गर्भ तथा बीज संबंधी दोष दूर हो जाते हैं—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकंचैनो द्विजानामपमृज्यते॥

(मनुस्मृति, २/२९)

मनु का यह भी कथन है कि द्विजों को गर्भाधान आदि शारीरिक संस्कार वैदिक कर्मों के साथ करने चाहिए, जो इहलोक व परलोक दोनों को पवित्र करते हैं—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

(मनुस्मृति, २/२८)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वैदिक लोगों का विश्वास था कि बीज (वीर्य) और गर्भाधान अपवित्र तथा अशुद्ध हैं। जातकर्म आदि संस्कारों से ही इस मल या पाप से छुटकारा पाया जा सकता है—

बीजगर्भसमुद्भवैनोनिवर्हणो जातकर्मादिज़न्यः।

(वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग १, पृष्ठ १३२)

आत्मा के निवास के लिए शरीर को उपयुक्त माध्यम बनाने के लिए संपूर्ण शरीर संस्कार भी आवश्यक समझे जाते थे। संस्कारों का अन्य प्रयोजन या उद्देश्य स्वर्ग और मोक्ष-प्राप्ति भी था। हारीत संस्कारों के प्रयोजन का वर्णन करते हुए कहते हैं—ब्राह्म संस्कारों से संस्कृत व्यक्ति ऋषियों की स्थिति को प्राप्त कर लेता है और उनके निकट निवास करता है; दैव संस्कारों से व्यक्ति देवों की स्थिति को प्राप्त करता है।

संस्कार जीवन के प्रत्येक भाग को व्याप्त कर लेते हैं। यही नहीं, मृत्यु के बाद भी व्यक्ति की आत्मा को प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। ये संस्कार इस प्रकार व्यवस्थित किए गए हैं कि जीवन के आरंभ (जन्म से पूर्व) से ही व्यक्ति उनके प्रभाव में आ जाता है। संस्कार मार्गदर्शन का कार्य करते हैं, जो आयु बढ़ने के साथ व्यक्ति के जीवन को एक निर्दिष्ट दिशा में ले जाते हैं। फलतः व्यक्ति के लिए अनुशासित जीवन अनिवार्य हो जाता है।

गृहस्थ के लिए जिन विविध यज्ञों व व्रतों का अनुष्ठान या विधान किया गया है, उनका प्रयोजन स्वार्थपरता को दूर करना तथा समस्त समाज को सामूहिक अंग के रूप में देखना है। इससे पूर्ववर्ती संस्कारों के मानसिक प्रभाव से व्यक्ति के लिए मृत्यु का सामना करना आसान हो जाता है। संस्कारों को अनिवार्य बनाने में समाज-शास्त्रियों (ऋषियों) का उद्देश्य संस्कृत व चरित्र की दृष्टि से समाज का एक रूप विकास तथा उसे समान आदर्श से अनुप्रेरित करना था। इस प्रयास में वे बहुत दूर तक सफल भी रहे।

आध्यात्मिकता हिंदुत्व की प्रमुख विशेषता है। हिंदुओं के इस सामान्य दृष्टिकोण ने संस्कारों को भी अध्यात्म-साधना के रूप में परिणत कर दिया। 'संस्कार' एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा की क्रमिक पीढ़ियों का कार्य करते हैं। इनके द्वारा व्यक्ति यह अनुभव करता है कि संपूर्ण जीवन संस्कारमय है और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संपूर्ण दैहिक क्रियाएँ आध्यात्मिकध्येय से अनुप्राणित हैं। इन संस्कारों के अनुष्ठान से हिंदुओं का सामान्य जीवन एक विशाल संस्कार बन गया। इस प्रकार हिंदुओं का विश्वास था कि सविधि संस्कारों के अनुष्ठान से वे दैहिक बंधन से मुक्त होकर मृत्यु-सागर को पार कर लेंगे।

□

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

४

संस्कारों के भेद या प्रकार

संस्कारों का उदय वैदिक काल या उससे भी पूर्व में हो चुका था, जैसा कि वेदों के विशेष कर्मकांडीय मंत्रों से ज्ञात होता है। किंतु वैदिक साहित्य में 'संस्कार' शब्द का प्रयोग प्राप्त नहीं होता है। ब्राह्मण साहित्य में भी इस 'संस्कार' शब्द का उल्लेख नहीं है। हालाँकि इसके विशेष प्रकरणों में उपनयन, अंत्येष्टि आदि संस्कारों के अंगों का वर्णन किया गया है। मीमांसक इस शब्द (संस्कार) का व्यवहार वैयक्तिक शुद्धि के लिए किए जानेवाले अनुष्ठानों के लिए न करके अग्नि में आहुति देने के पूर्व यज्ञीय सामग्री के परिष्कार के लिए करते हैं—

व्रीह्यादेश्च यज्ञांगताप्रदानाय वैदिकमार्गेण प्रोक्षणादिः।

(वाचस्पत्य बृहदभिधान, भाग ५, पृष्ठ ५१५८)

शास्त्रीय दृष्टि से संस्कार गृह्य सूत्रों के विषय क्षेत्र में आते हैं। किंतु यहाँ भी 'संस्कार' शब्द का प्रयोग उसके वास्तविक अर्थ में प्राप्त नहीं होता। वे भी मीमांसकों के ही अर्थ में इसका प्रयोग करते हैं और 'पंच-भू संस्कार' तथा 'पाक-संस्कार' का उल्लेख करते हैं। इससे वे यज्ञीय भूमि के मार्जन, सेचन और शुद्धि तथा आहवनीय सामग्री के उबालने अथवा तैयार करने का आशय लेते हैं। (आश्वलायन गृह्य सूत्र, १.३.१, पारस्कर गृह्य सूत्र, १.१.२, गोभिल गृह्य सूत्र)

सामाजिक मनोविज्ञान पर यज्ञों का गहरा प्रभाव था। अतः वे समस्त गृह्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विधि-विधानों का वर्गीकरण विविध यज्ञों के नाम पर करते हैं। दैहिक संस्कारों का भी अंतर्भाव पाक यज्ञों में कर लिया गया है। बैखानस स्मार्त सूत्रों में दैहिक संस्कारों तथा विभिन्न अवसरों पर देवाराधन के लिए संपन्न किए जानेवाले यज्ञों में अपेक्षाकृत स्पष्ट अंतर स्थापित किया गया है। इनमें ऋतुसंगमन अथवा गर्भाधान से विवाहपर्यंत अठारह शरीर-संस्कारों का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त इसी ग्रन्थ में संस्कारों से अलग बाइस यज्ञों का उल्लेख है। इसमें पंच महायज्ञ, सात पाक यज्ञ, सात हविर्यज्ञ और सात सोमयज्ञ भी समाविष्ट हैं। वास्तव में ये वैयक्तिक संस्कार नहीं, दैनिक तथा ऋतुओं से संबंधित यज्ञ हैं।

गृह्य सूत्र साधारणत: विवाह से आरंभ करके समावर्तन-पर्यंत दैहिक संस्कारों का निरूपण करते हैं। उनमें भी अधिकांश अंत्येष्टि का उल्लेख नहीं करते। केवल पाराशर, आश्वलायन तथा बोधायन आदि ही इसका वर्णन करते हैं। गृह्य सूत्रों में वर्णित संस्कारों की संख्या निम्नलिखित प्रकार से है—इनमें बारह से लेकर अठारह तक की संख्याएँ दी गई हैं और विविध सूचियों में संस्कारों के नामों में थोड़ा-बहुत अंतर है। कहीं कुछ बढ़ाया गया है और कहीं घटाया भी गया है। यह अंतर इस प्रकार है—

आश्वलायन गृह्य सूत्र	*पारस्कर गृह्य सूत्र*	*बौधायन गृह्य सूत्र*
१. विवाह	१. विवाह	१. विवाह
२. गर्भाधान	२. गर्भाधान	२. गर्भाधान
३. पुंसवन	३. पुंसवन	३. पुंसवन
४. सीमंतोन्नयन	४. सीमंतोन्नयन	४. सीमंतोन्नयन
५. जातकर्म	५. जातकर्म	५. जातकर्म
६. नामकरण	६. नामकरण	६. नामकरण
७. चूड़ाकर्म	७. निष्क्रमण	७. उप-निष्क्रमण
८. अन्नप्राशन	८. अन्नप्राशन	८. अन्नप्राशन
९. उपनयन	९. चूड़ाकर्म	९. चूड़ाकर्म
१०. समावर्तन	१०. उपनयन	१०. कर्णवेध (गृह्यशेष)
११. अंत्येष्टि	११. केशांत	११. उपनयन
	१२. समावर्तन	१२. समावर्तन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

१३. अंत्येष्टि	१३. पितृमेध

इसी प्रकार शांखायन सूत्र, वाराह सूत्र और वैखानस गृह्य सूत्र में भी अंतर है, जो इस प्रकार हैं—

शांखायन सूत्र	*वाराह सूत्र*	*वैखानस सूत्र*
१. स्वाध्याय विधि	१. जातकर्म	१. ऋतुसंगम
२. इंद्राणी कर्म	२. नामकरण	२. गर्भाधान
३. विवाह कर्म	३. दंतोद्गमन	३. सीमंत
४. पाणिग्रहण	४. अन्नप्राशन	४. विष्णुबलि
५. सप्तपदक्रमण	५. चूड़ाकर्म	५. जातकर्म
६. गर्भाधान	६. उपनयन	६. उत्थान
७. पुंसवन	७. वेदव्रतानि	७. नामकरण
८. सीमंतोन्नयन	८. गोदान	८. अन्नप्राशन
९. जातकर्म	९. समावर्तन	९. प्रवसागमन
१०. नामकर्म	१०. विवाह	१०. पिंडवर्धन
११. चूड़ाकर्म	११. गर्भाधान	११. चौलक
१२. उपनयन	१२. पुंसवन	१२. उपनयन
१३. वैश्वदेव कर्म	१३. सीमंतोन्नयन	१३. पारायण
१४. समावर्तन		१४. व्रतबंध विसर्ग
१५. गृह्य कर्म, प्रवेश कर्म		१५. उपाकर्म
१६. श्राद्ध कर्म		१६. उत्सर्जन
१७. उपाकरण		१७. समावर्तन
१८. उपाकर्म		१८. पाणिग्रहण
१९. सपिंडी कर्म		
२०. आभ्युदयिक श्राद्ध कर्म		
२१. उत्सर्ग कर्म		
२२. उपरम कर्म		
२३. तर्पण		

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

२४. स्नातक धर्म

समस्त धर्मसूत्रों में संस्कारों का वर्णन तथा उनकी संख्या का उल्लेख नहीं किया गया है। फिर भी इनमें उपनयन, विवाह, उपाकर्म, उत्सर्जन, अनध्याय और अशौच आदि के विषय में नियमों का समावेश प्राप्त होता है। मात्र 'गौतम धर्मसूत्र' में ८ आत्मगुणों के साथ ४० संस्कारों की सूची दी गई है **(चत्वारिंशत् संस्काराः अष्टौ आत्मगुणाः)**। ये ४० संस्कार और ८ आत्मगुण निम्नलिखित हैं—

(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमंतोन्नयन, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) अन्नप्राशन, (७) चूड़ाकरण, (८) उपनयन, (९) ऋग्वेद-व्रत, (१०) यजुर्वेद-व्रत, (११) सामवेद-व्रत, (१२) अथर्ववेद-व्रत, (१३) समावर्तन, (१४) दारपरिग्रह, (१५) देवयज्ञ, (१६) पितृयज्ञ, (१७) मनुष्ययज्ञ, (१८) भूतयज्ञ, (१९) ब्रह्मयज्ञ, (२०) श्रावणी, (२१) आग्रहायणी, (२२) चैत्री, (२३) आश्वयुजी, (२४) पूपाष्टका, (२५) मांषाष्टका, (२६) शाकाष्टका, (२७) अग्न्याधेय, (२८) अग्निहोत्र, (२९) दर्शपौर्णमास, (३०) आग्रहायण, (३१) चातुर्मास्य, (३२) निरूढ़पशुबंध, (३३) सौत्रामणी, (३४) अग्निष्टोम, (३५) अत्याग्निष्टोम, (३६) उक्थ, (३७) षोडशी, (३८) वाजपेय, (३९) अतिरात्र और (४०) आप्तोर्याम।

इनमें से क्रम संख्या १५ से १९ पर्यंत 'पंच महायज्ञ', क्रम संख्या २० से २७ पर्यंत ७ 'पाकयज्ञ', २७ से ३३ पर्यंत '७ हविर्यज्ञ' तथा ३४ से ४० पर्यंत ७ 'सोमयज्ञ'—इस प्रकार कुल ४० संस्कार हैं।

इनके अतिरिक्त ८ संस्कार अन्य भी हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) सर्वभूतों के प्रति दया, (२) क्षमा, (३) अनसूया (दूसरों के दोष न देखना), (४) शौच (पवित्रता), (५) अनायास (क्लेश न होना), (६) मंगल, (७) अकार्पण्य (उदारता) और (८) अस्पृहा। ये ८ आत्मगुण और पूर्व के ४० संस्कार मिलकर कुल ४८ संस्कार हुए।

किंतु यहाँ भी हमें संस्कारों और यज्ञों में कोई स्पष्ट अंतर (विभेद) नहीं दिखता। सभी गृह्य सूत्रों और श्रौत सूत्रों को, जिनका ब्राह्मण और श्रौत सूत्रों में विस्तृत वर्णन है, उपरिलिखित सूची में संस्कारों के साथ ही संयुक्त कर लिया गया है। यहाँ 'संस्कार' शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से समस्त धार्मिक कृत्यों के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अर्थ के रूप में किया गया है। परवर्ती (बाद के) स्मृतिकार का कथन है कि यज्ञों का समावेश बाह्य संस्कारों के अंतर्गत करना चाहिए तथा बाह्य संस्कारों को ही यथार्थ (वास्तव) में संस्कार समझना चाहिए।

हालाँकि यज्ञ भी परोक्ष रूप (अप्रत्यक्ष रूप) से पवित्र करनेवाले माने जाते थे—

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।' (बौधायन गृह्य सूत्र, १८.५) किंतु उनका मुख्य उद्देश्य था—देवों की आराधना। जबकि संस्कारों का प्रधान उद्देश्य संस्कारित व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा शरीर को संस्कृत या शुद्ध करना था। चैत्री और आश्वयुजी जैसे अनेक यज्ञ ऋतु विशेष से संबंधित थे, जो आगे चलकर लोकप्रिय भोज और उत्सवों में बदल गए।

स्मृतियों में 'संस्कार' शब्द का प्रयोग उन्हीं धार्मिक कृत्यों के अर्थ में किया गया है, जिनका अनुष्ठान व्यक्ति के व्यक्तित्व की शुद्धि के लिए किया जाता था। इनमें भी कुछ स्मृतियों में संस्कारों की सूची में 'पाक यज्ञों' का भी समावेश किया गया है। 'मनुस्मृति' के अनुसार, गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यंत तेरह स्मार्त या यथार्थ संस्कार हैं—

(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमंतोन्नयन, (४) जातकर्म, (५) नामधेय, (६) निष्क्रमण, (७) अन्नप्राशन, (८) चूड़ाकर्म, (९) उपनयन या मौंजीबंधन, (१०) केशांत, (११) समावर्तन, (१२) विवाह और (१३) श्मशान।

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः। (मनुस्मृति, २/१५)

वैदिकै कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिद्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ (वही, २/२८)

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजनामपमृज्यते॥ (वही, २/२९)

प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्॥ (वही, २/३१)

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत्। (वही, २/३२)

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा॥ (वही, ३/१)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थश्रममावसेत्॥ (वही, ३/२)
गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधिः।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्वितम्॥ (वही, ३/४)

'याज्ञवल्क्य-स्मृति' में भी केशांत को छोड़कर 'मनुस्मृति' में वर्णित संस्कारों को ही गिनाया गया है। 'गौतम-स्मृति' में ४० संस्कारों तथा 'अंगिरा-स्मृति' में २५ संस्कारों की सूची दी गई है।

यह जीवमयी सृष्टि त्रिस्कंधात्मक है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आत्मा और शरीर के बीच संबंध स्थापित करनेवाला सूत्रात्मा 'सत्त्व' है। आत्मा, शरीर और सत्त्व के आधार हैं—ब्रह्म, भूत और देवता। इसी कारण यह सृष्टि त्रिस्कंधात्मक है। आत्मा ज्ञान-प्रधान, शरीर क्रिया-प्रधान और सत्त्व अर्थ-प्रधान है। ये तीनों एक-दूसरे के परस्पर संयुक्त होने के कारण संस्कार-सापेक्ष्य हैं—अर्थात् इनका संस्कार आवश्यक है। अतः भूत संस्कार से शरीर-शुद्धि, देव संस्कार से देव-शुद्धि व ब्रह्म संस्कार से आत्मशुद्धि होती है।

भूत संस्कार गौण (अप्रधान) होता है, इसलिए उसका शेष दोनों संस्कारों में अंतर्भाव हो जाता है। इसीलिए श्रुतियों में संस्कार दो ही माने जाते हैं—(१) ब्राह्म संस्कार और (२) देव संस्कार। ब्राह्म संस्कारों को 'स्मार्त' और देव संस्कारों को 'श्रौत' नाम दिया गया है। इन दोनों प्रकार के संस्कारों से समन्वित (संस्कृत) द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) त्रिविध (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) मलिनताओं से विमुक्त होकर शुद्ध सत्त्व भाव को प्राप्त करता है।

हिंदू धर्म में संस्कारों का संबंध मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति से है। उनसे आत्मा और शरीर दोनों की शुद्धि होती है तथा अंतःकरण में सद्विचारों व शुद्ध संस्कारों का उदय होता है। 'संस्कार' अतीत, अनागत और वर्तमान—तीनों जीवन के उपकरण हैं। उपरिलिखित स्मार्त और श्रौत संस्कारों के पुनः तीन-तीन भेद हैं, जिनके नाम हैं—(१) गर्भाधान, (२) अनुव्रत और (३) धर्मशुद्धि।

गर्भाधान संस्कारों के ८ अवांतर भेद, अनुक्रत संस्कारों के ८ अवांतर भेद

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तथा धर्मशुद्धि-संस्कारों के ५ अवांतर भेदों को मिलाकर कुल (८+८+५) २१ भेद होते हैं। इनमें गर्भाधान और अनुव्रत संस्कारों को मिलाकर (८+८=१६) १६ संस्कार कहा जाता है। धर्मशुद्धि-संस्कार स्मार्त संस्कारों के ही पूरक एवं भावक होते हैं, अतः ये श्रौत संस्कारों के अधिक निकट हैं। इसलिए षोडश संस्कार की संख्या ही प्रसिद्ध एवं मान्य है।

किन्हीं महर्षियों के मत से संस्कार ३६ ही हैं तथा आत्मगुण के ८ संस्कार मिलाकर कुल ४४ संस्कार होते हैं। आत्मगुण के विषय में सभी महर्षियों के विचार प्रायः एक समान हैं। महर्षि अंगिरा ने तो २५ संस्कार ही निर्दिष्ट किए हैं। पुराणों में भी विविध संस्कारों का उल्लेख है, किंतु महर्षि व्यास प्रणीत १६ संस्कार ही वर्तमान में मान्य हैं।

जैसा कि ऊपर वर्णित है, किसी भी ऋषि की लंबी-लंबी सूचियों में अंत्येष्टि संस्कार की प्रायः गणना नहीं की गई है। यह संस्कार गृह्य सूत्रों, धर्मसूत्रों, और स्मृतियों में भी अदृश्यप्राय है। 'संस्कार' से संबंधित बाद के ग्रंथों में भी अंत्येष्टि संस्कार गायब है। संभवतः इसके मूल में यह भावना या धारणा थी कि 'अंत्येष्टि' एक अशुभ संस्कार है, अतः शुभ संस्कारों के साथ इसका वर्णन नहीं करना चाहिए। 'मनुस्मृति' में कहा गया है—

'निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।'

(मनुस्मृति, ११,१६)

एक कारण यह भी हो सकता है कि मृत्यु के साथ ही व्यक्ति की जीवन कथा का अंत हो जाता है और मरणोत्तर संस्कारों का व्यक्तित्व के परिष्कार पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव प्रतीत नहीं होता। इन सबके होने पर भी 'अंत्येष्टि' एक संस्कार के रूप में मान्य थी और आज भी षोडश संस्कारों में अतिरिक्त रूप में मान्य है। इसीलिए कुछ गृह्यसूत्र, मनु-याज्ञवल्क्य और जातुकर्ण्य इसकी गणना संस्कार सूची में करते हैं। अंत्येष्टि समंत्र (मंत्र सहित) संस्कारों में से एक है और इनसे संबंधित मंत्रों का संकलन वैदिक मंत्रों में से किया गया है।

ऊपर कथित सोलह संस्कारों में आठ गर्भाधान संस्कारों के नाम हैं— यथा—(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमंत या सीमंतोन्नयन, (४) जातकर्म (५) नामकरण, (६) निष्क्रमण, (७) अन्नप्राशन और (८) चौलकर्म या

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चूड़ाकरण। इनमें आरंभ के तीन अंतर्गर्भ और अंत के पाँच 'बहिर्गर्भ' संस्कार कहलाते हैं।

इस प्रकार अनुव्रत-संस्कारों के आठ भेदों के नाम हैं—(१) कर्णवेध, (२) उपनयन, (३) व्रतादेश, (४) वेदारंभ, (५) केशांत, (६) समावर्तन, (७) विवाह और (८) अग्निपरिग्रह। उपर्युक्त दोनों मिलकर सोलह हुए।

इनके अतिरिक्त पाँच धर्मशुद्धि संस्कारों के नाम हैं—(१) शरीर शुद्धि, (२) द्रव्य शुद्धि, (३) अघः शुद्धि, (४) एनःशुद्धि और (५) भाव शुद्धि। महर्षि व्यास द्वारा वर्णित सर्वाधिक मान्य षोडश संस्कार निम्नलिखित हैं—

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च।
नामक्रियानिष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।
केशान्त स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः॥
त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृता।

(व्यास स्मृति १/१३-१५)

अर्थात् (१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमंतोन्नयन, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) निष्क्रमण, (७) अन्नप्राशन, (८) वपनक्रिया (चूड़ाकरण), (९) कर्णवेध, (१०) व्रतादेश (उपनयन), (११) वेदारंभ, (१२) केशांत, (१३) वेदस्नान (समावर्तन), (१४) विवाह, (१५) विवाहाग्निपरिग्रह और (१६) त्रेताग्नि संग्रह।

आगे के अध्यायों में इन्हीं सोलह संस्कारों का परिचय तथा उनकी वर्तमान युग में उपयोगिता या औचित्य तथा वैज्ञानिकता पर प्रकाश डाला जा रहा है, ताकि हिंदू जन इन संस्कारों के महत्त्व को समझें और इनको अपनाएँ।

उपर्युक्त सोलह संस्कारों की मीमांसा वेद के कर्ममीमांसा-दर्शन में की गई है और बतया गया है कि ये सोलह संस्कार मनुष्य के लिए क्यों आवश्यक हैं। 'संस्कार' को मीमांसा शास्त्र में कर्म का बीज कहा गया है। कर्म प्रकट होता है। कौशलपूर्ण उपाय से ये सोलह संस्कार इस प्रकार बाँधे गए हैं कि विधिपूर्वक उनका अनुष्ठान हो तो ये ही सोलह संस्कार, जिनमें उपरिवर्णित अन्य सभी संस्कारों का अंतर्भाव समाहित है। मनुष्य के अभ्युदय में सहायक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हैं। इनमें प्रथम आठ संस्कार प्रवृत्ति मार्ग में पूर्ण उन्नति प्रदान करते हैं तो शेष आठ संस्कार मनुष्य के लिए मुक्ति का द्वार खोलते हैं।

हिंदू शास्त्रों का यह सिद्धांत है कि जैसा बीज बोया जाएगा वैसा ही वृक्ष होगा और उसी के अनुरूप फल भी लगते हैं। वृक्षोत्पत्ति में अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है; जैसे—देश, काल, जल, भूमि, परिस्थिति, वातावरण आदि। किंतु सर्वाधिक महत्त्व 'बीज' का ही है। अतः वैदिक, पौराणिक, स्मार्त और तांत्रिक संस्कारों का तात्पर्य यही है कि द्रव्य-शुद्धि, क्रिया-शुद्धि और मंत्र-शुद्धि से कौशलपूर्ण रीति से इन वैदिक संस्कारों द्वारा अंतर्जगत् में ऐसी शक्ति उत्पन्न की जाती है कि वह शक्ति समयांतर में उसी प्रकार के वृक्ष और फल की उत्पत्ति करती है, जैसा कि बीज बोते समय संकल्प किया गया था। दार्शनिक विषयों को समझने के लिए दार्शनिक अनुशीलन आवश्यक होता है। मात्र यह कह देने से काम नहीं चलता कि ये संस्कार अब अनावश्यक और अप्रासंगिक हो गए हैं। इनकी अब क्या उपादेयता या आवश्यकता है।

इन संस्कारों में सृष्टि करने लिए सूत्रपात की दशा में स्त्री रूपी पीठ में गर्भाधान द्वारा दैवी जगत् से संबंध बाँधा जाता है। तत्पश्चात् शुद्धाचार द्वारा दैवी जगत् को सामने रखकर सृष्टि उत्पन्न की जाती है। पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जातकर्म और नामकरण आदि संस्कार दैवी जगत् से संबंध-स्थापन के लिए ही किए जाते हैं। यथासमय चूड़ाकर्म तो हिंदुओं में प्रायः सभी वर्णों में होता है। इसका कारण यह है कि बालक के ब्रह्मरंध्र (मस्तक) पर शिखा रखकर उसका दैवी जगत् से संबंध कराया जाता है और उसके उत्तमांग (सिर) को देव मंदिर के रूप में प्रतिष्ठित (परिणत) किया जाता है।

द्विज बालकों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) का यथासमय यज्ञोपवीत संस्कार कराके उसे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शुद्धि के लिए तीन लड़ों का जनेऊ (उपवीत) पहनाया जाता है तथा आजीवन सदाचार व्रत धारण कराकर उसको आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रतिज्ञाबद्ध कराया जाता है। इसके बाद बालक की शिक्षा आरंभ होती है, जिसमें 'गुरु' की प्रधानता रखी गई है और गुरु के अधिकार को सर्वोपरि रखा गया है।

इसके बाद विवाह संस्कार होता है, जो स्त्री-पुरुष दोनों के लिए प्रवृत्ति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मार्ग का सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण संस्कार है। इस संस्कार में स्त्री और पुरुष का अलग-अलग क्या महत्त्व है, इसको बताया जाता है तथा उसके लिए प्रतिज्ञाबद्ध कराया जाता है। यह उत्तरदायित्व इसी जन्म तक सीमित न रहकर जन्म-जन्मांतर तक बना रहता है। अन्य धर्मों की भाँति केवल इसी जीवन तक नहीं अथवा कोर्ट मैरिज की भाँति नहीं कि जब चाहे तलाक ले ले। प्रवृत्ति मार्ग की पूर्णता विवाह-संस्कार के बाद गृहस्थ के रूप में हो जाती है।

इस प्रकार जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत संस्कारों से संस्कृत होकर मनुष्य कैसी नियमित उन्नति कर सकता है, इसकी विस्तृत पद्धति संस्कारों के रूप में हिंदू धर्म में ही है। आगे के अध्याय में इन्हीं संस्कारों का विवेचन किया गया है।

□

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

५

सोलह संस्कारों का विवेचन

पिछले अध्याय में यह उल्लेख किया जा चुका है कि वर्तमान समय में महर्षि व्यास द्वारा अनुमोदित सोलह संस्कारों को मान्यता प्राप्त है। इस अध्याय में उन्हीं सोलह संस्कारों के बारे में विवेचन किया जा रहा है। इन संस्कारों में प्रथम संस्कार है—गर्भाधान संस्कार।

१. गर्भाधान संस्कार

मानव का संपूर्ण जीवन संस्कारों का क्षेत्र है। इसलिए प्रजनन भी इसके अंतर्गत आता है। धर्मशास्त्र के अनुसार, इसके साथ कोई अशुचिता (अपवित्रता) का भाव नहीं लगा है। इसलिए अधिकांश गृह्य सूत्र गर्भाधान से ही संस्कारों का प्रारंभ करते हैं।

जिस कर्म द्वारा 'पुरुष' अपनी 'स्त्री' में अपना 'बीज' (वीर्य) स्थापित करता है, उसे 'गर्भाधान' कहते हैं—**'गर्भः संधार्यते येन कर्मणा तद् गर्भाधानमित्युनुगतार्थं कर्मनामधेयम्।'** (पूर्व मीमांसा, अध्याय १, पाद ४, आधिकरण-२)

शौनक ने भी कुछ भिन्न शब्दों में ऐसी ही परिभाषा दी है—जिस कर्म की पूर्ति में स्त्री (पति द्वारा) प्रदत्त शुक्र धारण करती है, उसे गर्भालंभन या गर्भाधान कहते हैं—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निषिक्तो यत्प्रयोगेण गर्भः संधार्यते स्त्रिया।
तद् गर्भालम्भनं नाम कर्म प्रोक्तं मनीषिभिः ॥

('वीरमित्रोदय-संस्कार' में उद्धृत)

इस प्रकार स्पष्ट है कि यह कृत्य कोई काल्पनिक या धार्मिक कृत्य नहीं, अपितु एक यथार्थ कर्म था। इस प्रजनन कार्य को सोद्देश्य और संस्कृत बनाने के लिए गर्भाधान संस्कार किया जाता था।

गृह्य सूत्रों में गर्भाधान संबंधी सर्वप्रथम व्यवस्थित विवेचन हुआ है। उनके अनुसार विवाह के उपरांत ऋतु-स्नान से शुद्ध पत्नी के समीप पति को प्रतिमास जाना होता था, किंतु गर्भाधान से पूर्व उसे विभिन्न प्रकार के पुत्रों—ब्राह्मण, श्रोत्रिय (जिसने एक शाखा का अध्ययन किया हो), अनूचान (जिसने केवल वेदांगों का अनुशीलन किया हो), ऋषिकल्प (कल्पों का अध्येता), भ्रूण (जिसने सूत्रों और प्रवचनों का अध्ययन किया हो), ऋषि (चारों वेदों का अध्येता) और देव (जो उपर्युक्त से श्रेष्ठ हो) की इच्छा के लिए व्रत का अनुष्ठान करना होता था। (बौधायन सूत्र, १.७.१-१८) व्रत की समाप्ति पर अग्नि में पकवान्न की आहुति दी जाती थी। इसके बाद सहवास के लिए पति-पत्नी को प्रस्तुत किया जाता था। जब पत्नी अत्यंत सुसज्जित एवं सुंदर ढंग से अलंकृत हो जाती थी, तब पति प्रकृति-सृजन संबंधी उपमामय तथा गर्भधारण में पत्नी को देवों की सहायता के लिए स्तुतिमयी वेदवाणी का उच्चारण करता था।

पुनः पुरुष और स्त्री के सहवास के विषय में उपमारूपक युक्त मंत्र का उच्चारण तथा अपनी प्रजनन शक्ति का वर्णन करता था और नर-नारी के सहकार्य के रूपकों से युक्त वैदिक ऋचाओं का गान करते हुए अपने शरीर को मलता था—अथैनां परिष्वजति—

(बौधायन सूत्र, १.७.४२)

आलिंगन के पश्चात् पूषा की स्तुति करते हुए और विकीर्ण बीज की ओर इंगित करते हुए गर्भाधान होता था। पति अपनी पत्नी के हृदय का स्पर्श करता था और उसके दक्षिण (दाएँ) कंधे पर झुकते हुए कहता था—'सुगंधित केशोंवाली तुम! तुम्हारा हृदय, जो स्वर्ग में निवास करता है, चंद्रमा में निवास करता है, जिसे मैं जानता हूँ, क्या वह मुझे जान सकता है? क्या हम शत् शरद देखेंगे?'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

धर्मसूत्र और स्मृतियों में इस संस्कार के कर्मकांडीय पक्ष में कुछ अन्य योग भी देते हैं। वस्तुतः वे इस संस्कार को और भी अनुशासित करने के लिए नियमों का निर्धारण करते हैं, जैसे—गर्भाधान कब हो, स्वीकृत और निषिद्ध रात्रियाँ कौन-कौन हैं ? नक्षत्र संबंधी विचार, बहुपत्नीक पुरुष अपनी पत्नी के पास कैसे पहुँचे, गर्भाधान एक आवश्यक कर्तव्य और इसके अपवाद, संस्कार को संपन्न करने की रात्रि आदि। यह बहुत विस्तृत विषय है, अतः उसका वर्णन यहाँ संभव नहीं, मात्र उल्लेख किया गया है।

याज्ञवल्क्य, आपस्तंब और शातातप आदि अनेक स्मृतियों में सहवास के पश्चात् पति के लिए स्नान करने का विधान है। पत्नी को इस शुद्धि से मुक्त रखा गया है। 'शातातप-स्मृति' के अनुसार शय्या पर पति-पत्नी दोनों ही अशुद्ध हो जाते हैं। वे उठते हैं तो केवल पति ही अपवित्र रहता है और पत्नी शुद्ध रहती है।

ऋतौ तु गर्भशं कित्वात्स्नानं मैथुनिन स्मृतम्। (याज्ञ और आपस्तंब)

उभावप्यशुची स्यातां दम्पत्ती शयनं गतौ।

शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्याद शुचिः पुमान्॥ (शातातप स्मृति)

शास्त्रकारों में इस विषय पर दो मत हैं कि 'गर्भाधान' गर्भ संस्कार है या क्षेत्र संस्कार। पहले जिनमें याज्ञवल्क्य और मनु भी हैं, का मत है कि यह संस्कार 'गर्भ-भ्रूण' का संस्कार है। अतः प्रत्येक द्विज के गर्भाधान से अग्निदाह-पर्यंत समस्त संस्कार मंत्र-सहित होने चाहिए।

निषेकाद्याश्श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति, १-१०)

दूसरे मत के अनुसार, विधि-विधान से स्त्री के साथ एक बार सहवास करने के पश्चात् भविष्य में पति को पत्नी के पास साधारणतः बिना किसी विधान के जाना चाहिए। पत्नी की जननेंद्रिय का स्पर्श करते हुए पुरुष 'विष्णुर्योनिम्' का उच्चारण करे। बिना गर्भाधान संस्कार के स्त्री में उत्पन्न बच्चा अशुद्ध होता है—

विष्णुर्योनिं जपेत्सूक्तं स्पृष्ट्वा त्रिभिर्व्रती।

गर्भाधान स्याकरणादस्यां जातस्तु दुष्यति॥

(वीर मित्रोदय, भाग १, पृष्ठ १७५)

इस वर्ग का यह भी विचार है कि यह संस्कार प्रथम गर्भ-धारण के समय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किया जाए, क्योंकि एक बार पवित्र हुआ क्षेत्र भविष्य के प्रत्येक गर्भ को पवित्र बनाता है—**ऋतुमत्यां प्राजापत्यमृतौ प्रथमे।**' वस्तुतः आरंभिक काल में गर्भाधान गर्भ संस्कार ही था।

समयानुसार हिंदुओं के सामाजिक और राजनीतिक विचार बदले। प्रत्येक गृहस्थ को दस पुत्रों की कामना नहीं रह गई। अकेले पुत्र को ही पितृऋण से चुकाने वाला माना गया। सांस्कृतिक दृष्टि से गर्भाधान संस्कार का अध्ययन तथा क्रियान्वयन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए आज भी गर्भाधान संस्कार बदली हुई विधियों के अनुरूप संपन्न किए जाते हैं।

ब्रह्मचर्याश्रम के पच्चीस वर्ष व्यतीत होने के पश्चात् विवाह का काल उपयुक्त माना गया है और उसके पश्चात् गृहस्थाश्रम का आरंभ होता है। गृहस्थाश्रम में भावी पीढ़ी के संतति करने हेतु गर्भाधान संस्कार आवश्यक है।

गर्भाधान संस्कार का फल—

विधिपूर्वक संस्कार से युक्त गर्भाधान से अच्छी और सुयोग्य संतान उत्पन्न होती है। इस संस्कार से वीर्य संबंधी तथा गर्भाधान संबंधी पाप का नाश हो जाता है, दोषों का मार्जन तथा क्षेत्र (गर्भ) का संस्कार होता है। यही गर्भाधान संस्कार का फल है। 'स्मृतिसंग्रह' में लिखा है—

निषेकाद् बैजिकं चैनो गार्भिकं चापमृज्यते।
क्षेत्रसंस्कार सिद्धिश्च गर्भाधान फलं स्मृतम्॥ (स्मृति संग्रह)

गर्भाधान के समय स्त्री-पुरुष जिस भाव से भावित होते हैं—अर्थात् जैसी भावना उनके मन में होती है, उसका प्रभाव उनके रज-वीर्य में भी पड़ता है और उस रज-वीर्यजन्य संतान में भी वे भाव ही पूर्व कर्म के फल का समन्वय करते हुए बालक के रूप में प्रकट होते हैं। 'सुश्रुत संहिता' में कहा गया है—

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितो।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥

(सुश्रुत संहिता, शारीरस्थान, २/४६/५०)

—अर्थात् 'स्त्री और पुरुष जैसे आहार-व्यवहार तथा चेष्टा से संयुक्त होकर परस्पर समागम करते हैं, उनका पुत्र भी वैसे ही स्वभाव का होता है।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अतः शुभ मुहूर्त में शुभ मंत्र से प्रार्थना करके गर्भाधान करना चाहिए। इस विधान से कामुकता का दमन और शुभ भावापन्न मन का संपादन हो जाता है। द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) को गर्भाधान से पूर्व पवित्र होकर निम्नलिखित मंत्र से प्रार्थना करनी चाहिए—

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके।
गर्भं ते आश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥

(बृहदारण्यक उपनिषद्, ६/४/२१)

—अर्थात् 'हे सिनीवाली देवि! हे विस्तृत जंघाओंवाली पृथुष्टुका देवि! आप इस स्त्री को गर्भ धारण करने का सामर्थ्य दें और उसे पुष्ट करें। कमलों की माला से सुशोभित दोनों अश्विनीकुमार तेरे गर्भ को पुष्ट करें।'

गृहस्थाश्रम में गर्भाधान सबसे आवश्यक संस्कार है। वर्तमान में तो इसका स्वरूप ही बदल गया है, जबकि स्त्री-पुरुष के शरीर और मन की पवित्रता व स्वस्थता, आनंद तथा शास्त्रानुकूल तिथि, वार, समय आदि के संयोग से ही श्रेष्ठ संतान उत्पन्न होती है। मनमाने रूप में या स्त्री के ऋतुमती होते ही शास्त्र की दुहाई देकर पशुवत् आचरण करने से तो हानि ही होती है।

भारतीय शास्त्रों (ज्योतिष आदि ग्रंथों में) गर्भाधान के समय की व्यवस्था का वर्णन इस प्रकार किया गया है—लग्न, सूर्य और चंद्र के पाप-युक्त और पापमध्यगत न होने पर, सप्तम स्थान में पापग्रह न रहने पर और अष्टम स्थान में मंगल एवं चतुर्थ स्थान में पापग्रह न रहने पर तथा राशि, लग्न और लग्न के चतुर्थ, पंचम, सप्तम, नवम और दशम स्थान शुभ ग्रह-युक्त होने पर एवं तृतीय, षष्ठ और एकादश स्थान पापयुक्त होने पर 'गंड' समय का त्याग करके युग्म रात्रि में पुरुष के चंद्र आदि शुद्ध होने पर उसे गर्भाधान करना चाहिए।

अश्विनी मघा और मूल नक्षत्र में प्रथम तीन दंड तथा रेवती, अश्लेषा, ज्येष्ठा नक्षत्र में शेष पाँच दंड 'गंड' माने जाते हैं। मनु के अनुसार, सोलह रात्रियाँ ऋतुकाल की हैं। इनमें रक्तस्राव की पहली चार रात्रियाँ अत्यंत निंदित हैं। ये चार तथा ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि इस प्रकार छह रात्रियों में नारी संसर्ग निषिद्ध है। शेष दस रात्रियों में छठी, आठवीं एवं दसवीं आदि युग्म रात्रि में गर्भाधान होने पर पुत्र और पाँचवीं, सातवीं आदि अयुग्म रात्रियों में गर्भाधान

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होने पर कन्या होती है।

ऋतुकाल की निंदित छह रात्रि और अनिंदित दस रात्रियों में से कोई भी आठ रात्रि में स्त्री संसर्ग करनेवाले के ब्रह्मचर्य की हानि नहीं होती। गर्भाधान में रजोदर्शन के निकट भी क्रमशः बादवाली रात्रियाँ अधिक अनुकूल होती हैं। सत्रहवीं रात्रि से पुनः रजोदर्शन की चौथी रात्रि तक सर्वथा संयम से रहना चाहिए। भोग की संख्या जितनी कम होगी उतनी ही शुक्र की नीरोगता, पवित्रता और शक्तिमत्ता बढ़ेगी। भोग-सुख भी उसी में अधिक प्राप्त होगा और संतान भी स्वस्थ, मेधावी, पुष्ट, धर्मशील तथा संवर्धनशील होगी।

गर्भाधान संस्कार में काल अर्थात् समय का भी बहुत महत्त्व है। दिन में गर्भाधान सर्वथा निषिद्ध है। दिन के गर्भाधान से उत्पन्न संतान दुराचारी और अधम होती है। संध्या की राक्षसी वेला में घोरदर्शन (भयंकर) राक्षस तथा भूत-प्रेतादि विचरण करते हैं। इसी समय भवानीपति भूतनाथ शंकर भी अपने भूतगणों से घिरे हुए विचरण करते हैं। दिति के गर्भ से हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु जैसे दैत्य इसीलिए उत्पन्न हुए थे कि दिति ने आग्रहपूर्वक संध्याकाल में ही अपने पति कश्यप से गर्भाधान कराया था। रात्रि के तृतीय प्रहर की संतान हरिभक्त और धर्मपरायण हुआ करती है।

जिस प्रकार के धार्मिक, शूर, विद्वान्, तेजस्वी संतान की इच्छा हो, वैसा ही भाव गर्भाधान के समय रखना चाहिए। ऋतु-स्नान के बाद नारी को वैसी ही वस्तुओं को देखना चाहिए और चिंतन करना चाहिए। महर्षि चरक ने लिखा है कि जो स्त्री पुष्ट, बलवान् और पराक्रमी पुत्र चाहती हो, उसे ऋतु-स्नान के पश्चात् प्रतिदिन प्रातःकाल सफेद रंग के विशाल साँड़ को देखना चाहिए। हिंदू धर्मशास्त्रों में कहा गया है तथा यह विज्ञानसम्मत है कि ऋतु-स्नान के पश्चात् नारी सर्वप्रथम जिसे देखती है, उसी का संस्कार उसके चित्त पर पड़ जाता है और वैसी ही संतान बनती है।

सुश्रुत-शारीरस्थान के द्वितीय अध्याय में लिखा है कि ऋतु-स्नान के बाद नारी को पति न मिलने पर कभी-कभी कामवश वह स्वप्न में ही पुरुष-समागम करती है। उस समय उसका अपना ही रज (वीर्य) उसके रज से मिलकर जरायु (डिंबाशय) में पहुँच जाता है और वह गर्भवती हो जाती है। किंतु गर्भ मे पति का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वीर्य न होने से अस्थि आदि नहीं होते। वह केवल मांसपिंड का कुम्हड़ा जैसा होता है या साँप, बिच्छू, भेड़िया आकार के विकृत जीव जैसा होता है। ऋतुकाल में कुत्ते, भेड़िये, बकरे आदि के मैथुन देखने पर भी उसी भावना के अनुसार रात को स्वप्न आते हैं और ऐसे विकृत जीव गर्भ में निर्मित हो जाते हैं।

गृहस्थ जीवन में प्रवेश के लिए पाणिग्रहण एक अनिवार्य विधान है। यह मात्र काम-सुख या इंद्रिय-भोग के लिए न होकर अच्छी संतान के प्रजनन के लिए है। गृहस्थ जीवन के लिए संतान एक प्रकाश है। स्मृतियों का कथन है कि पितृ-ऋण और 'पुन्नाम' नरक से मुक्ति पाने के लिए पुत्र का होना आवश्यक है। पुरुष व स्त्री के वीर्य और रज में तथा अन्न आदि में 'जीव' पहले से ही उपस्थित रहता है। वह जीव वैसे तो शुद्ध सत्त्व रूप में रहता है, किंतु अनेक प्राकृतिक व आगंतुक दोषों के कारण उसकी शुद्धावस्था में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ये विकार जीव के पूर्वजन्म के भी हो सकते हैं और माता-पिताकृत कर्म, भोजन आदि के भी हो सकते हैं। इन विकारों के परिमार्जन के लिए ही गर्भाधान संस्कार का विधान है।

प्रत्येक गर्भस्थ जीव माता-पिता के रज-वीर्य जनित प्राकृतिक व आगंतुक दोषों से प्रभावित होने के अतिरिक्त जन्मांतर में अर्जित अपने अच्छे-बुरे कर्मों को भी साथ लाता है। अतः गर्भाधान संस्कार से उन दोषों का परिमार्जन हो जाता है। सामान्य शास्त्रीय विधान के अनुसार, विवाह होने के कम-से-कम तीन दिन बाद और अधिक-से-अधिक सात वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करके ही गर्भाधान किया जाना चाहिए। गर्भाधान संस्कार को पुत्रेष्टि संस्कार भी कहा जाता है।

२. पुंसवन संस्कार

गर्भ-धारण का निश्चय हो जाने के पश्चात् गर्भस्थ शिशु को पुंसवन नामक संस्कार द्वारा संस्कारित किया जाता है। पुंसवन संस्कार से तात्पर्य सामान्यतः उस कर्म से है, जिसके अनुष्ठान से 'पुं' =पुमान (पुरुष) का जन्म हो—**पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुंसवनमीरितम्।** (शौनक संहिता, वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग १, पृष्ठ १६६ पर उद्धृत)

इस अवसर पर पठित तथा गीत ऋचाओं में पुमान अथवा पुत्र का उल्लेख

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किया गया है, जिनमें पुत्र की कामना की गई है—

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान्॥

(अथर्ववेद, ३/२३/३)

पुत्र को जन्म देनेवाली माता की प्रशंसा की जाती थी तथा समाज में उसे सम्मानित स्थान प्राप्त था। यह परंपरा उस युग से चली आ रही थी, जब युद्ध के लिए पुरुषों की अधिक आवश्यकता होती थी। यदि संतान पुत्री भी हो तो यह आशा की जाती थी कि वह आगे चलकर पुरुष संतान को जन्म देगी।

अथर्ववेद तथा सामवेद के मंत्रों में पुमान (पुरुष) संतति की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ उपलब्ध होती हैं। पति अपनी पत्नी के निकट प्रार्थना करता है—'जिस प्रकार धनुष पर बाण लगाकर संधान किया जाता है, उसी प्रकार तेरी योनि (गर्भाशय) में पुत्र को जन्म देनेवाले गर्भ (पुमान् गर्भः) का आधान है। दस मास व्यतीत होने पर तेरे गर्भ से वीर पुत्र का जन्म हो। तू पुरुष को जन्म दे, उसके पश्चात् सुसंतति का प्रसव हो। तू पुत्रों की माता बन, उन पुत्रों की माता बन, जो उत्पन्न हो चुके हैं तथा जिनका तू भविष्य में प्रसव करेगी।'

आ ते योनिं गर्भ एनु पुमान् बाण इवेषुधिम्।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमासस्य॥

(अथर्ववेद, ३/२३/२)

उक्त अवसर पर अनेक प्रकार के अनुष्ठान किए जाते थे। इस कृत्य को 'प्राजापत्य' कहा गया है—**'कृणोमि ते प्राजापत्यम्'**। (वही, ३/२३/५)

पुंसवन का समय—गृह्य सूत्रों में पुंसवन संस्कार गर्भ-धारण के पश्चात् तीसरे अथवा चौथे मास में या उसके भी पश्चात् उस समय संपन्न करने का निर्देश है, जब चंद्र किसी पुरुष नक्षत्र, विशेषतः पुष्य नक्षत्र में संक्रमण कर जाए।

पुंसवन संस्कार के अनुष्ठान का समय गर्भ के द्वितीय से अष्टम मास तक माना गया है। इसका कारण यह है कि विभिन्न स्त्रियों में गर्भ-धारण के चिह्न विभिन्न काल में प्रकट होते हैं। कुलाचार या पारिवारिक प्रथाएँ भी इस वैविध्य के लिए उत्तरदायी होती हैं। इन कालों में बृहस्पति ने भेद करते हुए लिखा है कि प्रथम गर्भ में यह संस्कार तीसरे मास में करना चाहिए; किंतु उस स्त्री के विषय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में, जो इससे पूर्व भी संतति का प्रजनन कर चुकी हो, यह कृत्य गर्भ के चौथे, छठे या आठवें मास में भी संपन्न किया जा सकता है—

तृतीये मासि कर्त्तव्यं गृष्टेरन्यत्र शोभनम्।
गृष्टेश्चतुर्थे मासे तु षष्ठे मासेऽथवाऽष्टमे॥

(वीरमित्रोदय संस्कार, भाग १, पृष्ठ १६८)

बाद के गर्भों की तुलना में पहली बार गर्भ-धारण होने पर गर्भ के चिह्न कुछ पहले ही स्पष्ट हो जाते हैं। इसीलिए द्वितीय आदि गर्भों में पुंसवन संस्कार का काल कुछ बाद का निर्देशित किया गया है।

स्मृतियों में संस्कार के अनुष्ठान के लिए उचित समय का विचार किया गया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार—'गर्भाशय में गर्भ के गतिशील होने के पूर्व ही यह संस्कार कर देना चाहिए।' बृहस्पति व देवल भी इस मत का समर्थन करते हैं, किंतु जातुकर्ण्य व शौनक के अनुसार गर्भ-धारण के स्पष्ट हो जाने पर उसके तीसरे मास में पुंसवन-संस्कार करना चाहिए—

गर्भाधानमृतौ पुंसः सुवनं स्पन्दनात्पुरा।

(याज्ञ. स्मृति १/१)

'पुम्' नामक नरक से जो त्राण (रक्षा) करता है, उसे पुत्र कहा गया है— **'पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते इति पुत्रः।'** इसी आधार पर पुत्र की प्राप्ति के लिए पुंसवन संस्कार का विधान है। जब गर्भ दो-तीन माह का हो जाता है, तभी पुंसवन संस्कार किया जाता है। यह संस्कार तब किया जाता है, जब चंद्रमा किसी पुरुष-संज्ञक नक्षत्र का संक्रमण करता है। पुष्य नक्षत्र इसके लिए सबसे उपयुक्त माना जाता है। गर्भिणी को उस दिन उपवास करना पड़ता है। स्नान के पश्चात् वह नए वस्त्र पहनती है। रात्रि में वटवृक्ष की छाल, उसके नवीन अंकुर तथा पल्लवों और कुश की जड़ को जल के साथ पीसकर, छानकर, उस रस रूप औषधि को पति गर्भिणी को दाएँ नाक से पिलाता है और पुत्र की भावना से—

ॐ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः परिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(यजुर्वेद, १३/४)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आदि मंत्रों का पाठ करता है। कुछ गृह्य सूत्रों में वर्णित है कि उक्त मंत्रों के साथ कुशकंटक तथा सोमलता का रस भी मिलाया जाता था। उपर्युक्त मंत्रों और औषधियों के प्रभाव से भाव-प्रधान नारी के मन में पुत्र-भाव प्रवाहित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप गर्भ के मांसपिंड में पुरुष के चिह्न प्रबल हो उठते हैं।

यदि पिता यह चाहता है कि उसका पुत्र वीर्यवान् तथा बलवान् हो तो एक जलपात्र स्त्री के अंक (गोद) में रख देता है और उसके उदर का स्पर्श करता हुआ 'सुपर्णोऽसि' आदि मंत्र का उच्चारण करता है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार, वटवृक्ष में ऐसे गुण हैं, जिनमें गर्भकालीन समस्त कष्टों—तिल्ली का आधिक्य, दाह आदि के निवारण की क्षमता है (सुश्रुत, सूत्रस्थान, अध्याय-३)। सुश्रुत का कथन है कि पुत्र की प्राप्ति के लिए सुलक्षणा, वटशुंग, सहदेवी तथा विश्वदेवी—इनमें से अन्यतम औषधि को दूध के साथ घोंटकर उसके रस की तीन या चार बूँद गर्भिणी के दाएँ नासापुट में छोड़ना चाहिए। इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि कहीं उसे थूककर फेंक तो नहीं देती—

लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहः सुलक्षणा-वटशुंग-सहदेवी-विश्वदेवानां-न्यतमं क्षीरेणामिघुट्य त्रींश्चतुरो वा बिन्दून दद्याद्दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै न च तान्निष्ठीवेत्। (वही, शारीरस्थान, अध्याय-२)

नासा रंध्रों में औषधि छोड़ना हिंदू समाज में प्रचलित एक सामान्य प्रथा है। इसी प्रकार स्त्री के अंक में जल से भरा पात्र रखना एक प्रतीकात्मक कृत्य था। जल से पूर्ण पात्र भावी शिशु में जीवन तथा उत्साह के आविर्भाव का सूचक था। गर्भाशय के स्पर्श के माध्यम से भावी माता द्वारा पूर्णरूप से सावधानी बरतने की आवश्यकता पर बल दिया जाता था, जिससे कि गर्भस्थ शिशु स्वस्थ तथा सबल हो और गर्भपात की आशंका न हो।

स्मृतियों में इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है कि पुंसवन संस्कार प्रत्येक गर्भ-धारण में संपन्न करना चाहिए या नहीं? शौनक के अनुसार, प्रत्येक गर्भ-धारण के पश्चात् करना चाहिए, क्योंकि स्पर्श करने तथा औषधि-सेवन से गर्भ पवित्र व शुद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस संस्कार के अवसर पर उच्चरित तथा पठित वेदमंत्रों के प्रभाव से शिशु में विगत जन्मों की स्मरण करने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की क्षमता का संचार होता है।

'याज्ञवल्क्य-स्मृति' पर विज्ञानेश्वर प्रणीत मिताक्षरी टीका में इस संस्कार की उपेक्षा प्रकट होती है। वहाँ कहा गया है कि ये पुंसवन तथा सीमंतोन्नयन के कृत्य क्षेत्र-संस्कार हैं, अत: इनका संपादन एक ही बार करना चाहिए, प्रत्येक बार गर्भ-धारण में नहीं।

पुत्र-प्राप्ति के लिए पुराणों में 'पुंसवन नामक' एक व्रत विशेष का विधान भी बताया गया है, जो वर्ष भर तक चलता है। स्त्रियाँ पति की आज्ञा से ही इस व्रत का संकल्प लेती हैं। भागवत के छठे स्कंध, अध्याय १८-१९ में वर्णित है कि अपने पति महर्षि कश्यप की आज्ञा से दिति ने इंद्र के वध की क्षमता रखनेवाले पुत्र की कामना से यह व्रत किया था।

३. सीमंतोन्नयन संस्कार

गर्भ का तीसरा संस्कार 'सीमंतोन्नयन' है। इस नाम का कारण यह है कि इस कृत्य में गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमंत) को ऊपर उठाया जाता है (उन्नयन किया जाता है)। **'सीमन्त उन्नीयते यस्मिन् कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयनमिति कर्मनामधेयम्।'** (वीरमित्रोदय संस्कार, भाग १, पृष्ठ १७२) इसे सीमंत करण या सीमंत-संस्कार भी कहते हैं। इस संस्कार का उद्‌देश्य गर्भ की शुद्धि व रक्षा है।

गृह्य सूत्र प्राय: गर्भ के चतुर्थ या पंचम मास को इस संस्कार के लिए उचित ठहराते हैं—**प्रथम गर्भायाश्चतुर्थे मासि सीमन्तोन्नयनम्।** (बौधायन गृह्य सूत्र, १.१०.१)। स्मृतियों के अनुसार यह काल छठे से आठवें मास तक हो सकता है—**षष्ठेऽष्टमे वा सीमान्तः।** (याज्ञवल्क्य स्मृति, १/१०) और ज्योतिष ग्रंथों के अनुसार सीमंतोन्नयन संस्कार शिशु के जन्म लेने तक कभी भी हो सकता है।

कतिपय विद्वानों का कथन है कि यदि सीमंतोन्नयन के पूर्व ही प्रसव हो जाए तो शिशु के जन्म के पश्चात् उसे माता के अंक (गोद) या किसी पेटक में रखकर यह संस्कार संपन्न किया जा सकता है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्त्री यद्यकृतसीमन्ता प्रसूयते कदाचन।
गहीतपुत्रा विधिवत् पुनः संस्कारमर्हति॥
तदानीं पेटके गर्भं स्थाप्य संस्कारमाचरेत।

(सत्यव्रत, गार्ग्य के वचन, वीरमित्रोदय, भाग १, पृष्ठ ११७ पर उद्धृत)

वस्तुतः यह संस्कार छठे से आठवें माह में ही संपन्न करने का विधान वर्तमान में प्रचलित है। वैसे तो इस संस्कार को करने की भावना लुप्त होती जा रही है।

सामान्यतः गर्भ में चार मास के बाद भ्रूण के अंग-प्रत्यंग, हृदय आदि प्रकट हो जाते हैं। चेतना का स्थान हृदय बन जाने के कारण गर्भ में चेतना आ जाती है। इसलिए उसमें इच्छाओं का उदय होने लगता है। वे इच्छाएँ माता के हृदय में प्रतिबिंबित होकर प्रकट होती हैं, जो 'दोहद' कहलाती हैं।

गर्भ में जब मन तथा बुद्धि में चेतना शक्ति का उदय होने लगता है, तब उनमें जो संस्कार डाले जाते हैं, उनका बालक पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। इस समय गर्भ शिक्षण योग्य होता है। इसलिए माता-पिता को इस काल में परस्पर स्नेह बनाए रखना चाहिए।

सीमंतोन्नयन संस्कार इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि चौथे, छठे तथा आठवें माह में गिरा हुआ गर्भ जीवित नहीं होता। इसका कारण यह है कि इस समय इंद्र विद्युत् प्रबल होता है। सातवें मास में गिरा गर्भ तो जीवित रह सकता है। अतः चौथे, छठे या आठवें मास में सीमंतोन्नयन कर देने से इंद्र विद्युत् शांत हो जाता है, जिससे गर्भपात की आशंका नष्ट हो जाती है।

सीमंतोन्नयन संस्कार किसी भी पुरुष नक्षत्र के समय संपन्न किया जाता है। भावी माता को उस दिन उपवास करना चाहिए। वास्तविक विधि-विधान, मातृ-पूजा, नांदी श्राद्ध तथा प्राजापत्य आहुति आदि प्रास्ताविक कृत्यों के साथ आरंभ होता है।

इसके पश्चात् पत्नी अग्नि के पश्चिम एक कोमल आसन पर बैठती है और पति उदुंबर (गूलर) के कच्चे फल, जो सम संख्या में गुच्छे में हों, दर्भ या कुश के तीन गुच्छों, तीन श्वेत चिह्नवाले साही के काँटे, वीर व्रत काष्ठ की यष्टि (डण्डा) तथा पूर्ण तकुए के साथ 'ॐ भूर्भुवः स्वः' आदि मंत्र या महाव्याहृतियों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

में से प्रत्येक का उच्चारण करता हुआ पत्नी के सीमंतों को ऊपर की ओर (अर्थात् सिर के अग्रभाग से आरंभ करके) सँवारता है। मंत्र इस प्रकार है—**ॐ भूर्विनयामि, ॐ भूवर्विनयामि, ॐ स्वर्विनयामि**—यह मंत्र पढ़ते हुए, सीमंतों का पृथक्करण करता हुआ निम्नलिखित मंत्र पढ़ता है—

येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोभि॥

अर्थात् 'जिस प्रकार देवमाता अदिति का सीमंतोन्नयन प्रजापति ने किया, उसी प्रकार इस गर्भिणी का सीमंतोन्नयन करके इसके पुत्र को जरापर्यंत दीर्घजीवी करता हूँ।'

भूत-प्रेतों को आतंकित करने के उद्देश्य से पत्नी के ऊपर लाल चिह्न बनाने की प्रथा भी अनेक स्थानों पर मिलती है। सीमंतों को सँवारने के पश्चात् पति त्रिबटे सूत्रों के धागे के साथ गूलर की शाखा पत्नी के गले के चारों ओर बाँधता है। इस अवसर पर एक मंत्र पढ़ा जाता है—'**अयमूर्ज्जस्वितो वृक्ष ऊर्ज्जेव फलिनी भव।**' (पारस्कर गृह्य सूत्र, १,१५,६) अर्थात् यह वृक्ष ऊर्जस्वी है, तू भी इसी वृक्ष के समान ऊर्ज्जवती और फलवती हो।' उदुंबर (गूलर) वृक्ष की शाखा के स्थान पर बौधायन जौ के पौधे का विधान करते हैं।

यह कृत्य स्त्री की उर्वरता तथा फलवत्ता का प्रतीक था। यह भाव उदुंबर वृक्ष की शाखा तथा जौ के पौधों के असंख्य फलों द्वारा स्पष्ट है। इसके बाद पति गर्भिणी से चावल की राशि, तिल तथा घी देखने एवं संतति, पशु, सौभाग्य और अपने (पति) की दीर्घायु की कामना करने के लिए कहता था—

किं पश्यसि। प्रजां पशून् सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः।

(सामवेद ब्राह्मण, १५-१-५)

कुछ धर्मशास्त्रियों के अनुसार, गर्भिणी स्त्री के आस-पास बैठी हुई ब्राह्मण स्त्रियों को मंगलसूचक वाक्यों का उच्चारण करना चाहिए; यथा—'तू वीर पुत्रों की माता हो, तू जीव-पुत्रा हो आदि—**वीरसूर्जीव-पत्नीति ब्राह्मण्यो मंगल्यानि वाग्भिरूपासीरन् सूर्जीव पत्नीति।**'

ब्राह्मण-भोजन के बाद यह संस्कार समाप्त होता है। संस्कार के बाद आकाशमंडल में तारों के प्रकट होने तक भावी माता को मौन रखना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रयोजन—सीमंतोन्नयन संस्कार का उद्‌देश्य आंशिक रूप से विश्वासमूलक तथा व्यावहारिक है। जनसाधारण का यह विश्वास था और है कि गर्भवती को अमंगलकारी शक्तियाँ ग्रस्त कर सकती हैं। अतः उनके निराकरण के लिए विशेष संस्कार की आवश्यकता प्रतीत हुई। 'आश्वलायन-स्मृति' में इस विश्वास का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि रुधिराशन में तत्पर कतिपय दुष्ट राक्षसियाँ पत्नी के प्रथम गर्भ को खाने के लिए आती हैं। पति को चाहिए कि उनके निवारण के लिए वह 'श्री' का आवाहन करे। इससे उसके द्वारा रक्षित स्त्री को उक्त राक्षसियाँ मुक्त कर देती हैं। ये अलभ्य क्रूर मांसभक्षी प्रथम गर्भकाल में स्त्री पर अधिकार जमा लेती हैं तथा उसे पीड़ा पहुँचाती हैं। उन्हें भगाने के लिए ही सीमंतोन्नयन नामक संस्कार का विधान किया गया है—

पत्न्याः प्रथमजं गर्भमत्तुकामाः सुदुर्भगाः।
आयान्ति काश्चिद्राक्षस्यो रुधिराशनतत्पराः॥
तासां निरसनार्थाय श्रियमावाहयेत् पतिः।
सीमन्तकरणी लक्ष्मीस्तामावहति मन्त्रतः॥

(आश्वलायनाचार्य, वीरमित्रोदय संस्कार, भाग १, पृष्ठ १७२ से उद्‌धृत)

संस्कार का धार्मिक प्रयोजन माता के ऐश्वर्य तथा अनुत्पन्न शिशु के लिए दीर्घायुष्य की प्राप्ति था। गर्भ के पाँचवें मास से भावी शिशु का मानसिक निर्माण आरंभ हो जाता है। इस कारण गर्भवती के लिए इस प्रक्रिया को सुविधाजनक बनाने के लिए अधिकतम सावधानी रखना आवश्यक होता है, जिससे गर्भ को किसी भी प्रकार का शारीरिक आघात न पहुँचे। उसके केशों को सँवारकर प्रतीकात्मक रूप से तथ्य पर बल दिया जाता है।

इस संस्कार का एक प्रयोजन और भी है, वह है गर्भवती को यथासंभव हर्षित तथा उल्लसित रखना। राका (पूर्णिमा की रात्रि) तथा सुपेशा (सुडौल अवयवों वाली) आदि शब्दों द्वारा गर्भवती को संबोधित और स्वयं उसके केशों को सजाना-सँवारना आदि साधन पति-पत्नी में परस्पर स्नेह एवं प्रगाढ़ता बढ़ाकर इस संस्कार के प्रयोजन को सफल बनाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

४. निष्क्रमण संस्कार

निष्क्रमण संस्कार करने का समय जन्म के पश्चात् बारहवें दिन से चतुर्थ मास तक भिन्न-भिन्न है। 'भविष्यपुराण' तथा 'बृहस्पति-स्मृति' इस संस्कार के लिए बारहवें दिन का विधान करते हैं। किंतु गृह्य सूत्रों व स्मृतियों के अनुसार जन्म के पश्चात् तीसरे या चौथे मास में यह संस्कार करने का विधान है। इसका कारण यह है कि तृतीय मास में शिशु को सूर्य दर्शन और चतुर्थ मास में चंद्र दर्शन कराना चाहिए।

ततस्तृतीये कर्त्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम्।
चतुर्थमासि कर्त्तव्यं शिशोश्चन्द्रस्य दर्शनम्॥

(यमस्मृति)

इस संस्कार का मुख्य उद्‌देश्य है शिशु की आयु में वृद्धि करना— **'निष्क्रमणादायुषो वृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः।'** तीन माह तक बालक का शरीर अपरिपक्व होता है। इस कारण वह प्रसूति गृह के उपयुक्त वातावरण एवं परिस्थिति में ही रहता है। प्रसूति गृह में सीमित रहने की अवधि समाप्त हो जाने पर माता उस छोटे से कमरे से बाहर आती है और पुनः पारिवारिक जीवन में भाग लेना आरंभ कर देती है। इसके साथ ही शिशु का संसार भी कुछ अधिक विस्तृत हो जाता है।

अब उसे घर के किसी भी भाग में ले जाया जा सकता है। माता-पिता तथा परिवार के प्रौढ़ व वयोवृद्ध सदस्य उसे खिलाते और उसके साथ खेलते हैं। बालक के छोटे जिज्ञासु नेत्र घर के प्रत्येक सदस्य को एकाग्रतापूर्वक देखते हैं और वह किसी भी वस्तु को अनदेखी नहीं रहने देता है। किंतु एक-दो मास में ही शिशु का यह विश्व बहुत छोटा प्रतीत होने लगता है। किंतु शिशु का जीवन घर के बाहर प्राकृत तथा अतिप्राकृत संकटों से सुरक्षित नहीं होता। इसलिए शिशु की रक्षा के लिए देवताओं का अर्चन और उनकी सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।

'मुहूर्त-संग्रह' के अनुसार—निष्क्रमण संस्कार को संपन्न करने के लिए शिशु के मामा को आमंत्रित करना आवश्यक है। इसका कारण यह है कि अपनी बहन के शिशु के लिए उसके हृदय के स्नेहपूर्ण भाव हैं। **'उपनिष्क्रमणे शास्ता**

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मातुलो वाहयेच्छिशुम्।' (मुहूर्त-संग्रह, वीर मित्रोदय संस्कार, भाग १, पृष्ठ २५३ पर उद्धृत)

'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' धात्री (धाय माँ) द्वारा शिशु को बाहर ले जाने का विधान करता है। इस प्रथा का उदय संभवतः उस समय हुआ, जब परदा प्रथा के कारण प्रतिष्ठित परिवार की स्त्रियाँ घर के बाहर नहीं निकल सकती थीं। किंतु व्यवहार में यह केवल धनी परिवारों तक ही सीमित था।

ततस्त्वलङ्कृता धात्री बालमादायपूजितम्।
बहिर्निष्कासयेद् गेहात् शङ्खपुण्याहनिः स्वनैः॥

(विष्णुधर्मोत्तर पुराण)

संस्कार के लिए नियत दिन शिशु की माता या धाय बरामदे या आँगन के ऐसे वर्गाकार भाग को, जहाँ से सूर्य दिखाई दे, गोबर और मिट्‌टी से लीपती है, उस पर स्वस्तिक का चिह्न बनाती है तथा धान्य कणों को विकीर्ण करती है। तत्पश्चात् शिशु और माता भली प्रकार अलंकृत होकर कुलदेवता के समक्ष आते हैं। वाद्य-संगीत के साथ कुलदेवता की पूजा की जाती है। आठ लोकपालों, सूर्य, चंद्र, वायुदेव और आकाश की भी स्तुति की जाती है। ब्राह्मणों को भोजन दिया जाता है और शुभसूचक श्लोकों का उच्चारण किया जाता है।

शंखध्वनि तथा वैदिक मंत्रों के उच्चारण के साथ शिशु बाहर लाया जाता है। बाहर लाते समय पिता शकुन्त सूक्त या निम्नलिखित श्लोक का उच्चारण करता है—यह शिशु अप्रमत्त हो या प्रमत्त, दिन हो या रात्रि, इंद्र के नेतृत्व में (शुक्र पुरोगमाः) सब देव इसकी रक्षा करें—

अप्रमत्तं प्रमत्तं वा दिवा रात्रवथापि वा।
रक्षन्तु सततं सर्वे देवाः शुक्र पुरोगमाः॥

(विष्णुधर्मोत्तर पुराण)

इसके बाद शिशु को किसी देवालय में ले जाया जाता है, जहाँ धूप, पुष्प, माला आदि से देवार्चन होता है, शिशु देवता को प्रणाम करता है और ब्राह्मण उसे आशीष देते हैं। इसके बाद शिशु को मंदिर के बाहर लाकर मामा की गोद में दिया जाता है, जो उसे घर लाता है और अंत में खिलौने आदि उपहार व आशीष दिए जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सूर्य तथा चंद्र आदि देवताओं का पूजन करके शिशु को उनका दर्शन कराना इस संस्कार की मुख्य प्रक्रिया है। शिशु का पिता इस संस्कार के अंतर्गत आकाश आदि पंचभूतों के अधिष्ठाता देवताओं से बालक के कल्याण की कामना करता है—

शिवे तेऽऽस्तां द्यावापृथिवी असन्तापे अभिश्रियो, शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो ते हृदि। शिवा अभिक्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः। (अथर्ववेद संहिता, ८/२/१४)

अर्थात् 'हे बालक! तेरे निष्क्रमण के समय द्युलोक तथा पृथिवीलोक सुखद एवं शोभास्पद हों। सूर्य तेरे लिए कल्याणकारी प्रकाश करे। तेरे हृदय में स्वच्छ कल्याणकारी वायु का संचरण हो। दिव्य जलवाली गंगा-यमुना आदि नदियाँ तेरे लिए निर्मल स्वादिष्ट जल का वहन करें।'

संपूर्ण संस्कार का महत्त्व शिशु की दैहिक आवश्यकता और उसके मन पर सृष्टि की असीमित महत्ता के अंकन में निहित है। संस्कार का व्यावहारिक अर्थ केवल यही है कि एक निश्चित समय के पश्चात् बालक को घर के बाहर उन्मुक्त वायु में लाना चाहिए और यह अभ्यास निरंतर प्रचलित रहना चाहिए। यह संस्कार शिशु के उदीयमान मन पर यह भी अंकित करता है कि यह विश्वेश्वर की अपरिमित सृष्टि है; उसका आदर विधिपूर्वक करना चाहिए।

५. अन्नप्राशन संस्कार

ठोस भोजन या अन्न खिलाना शिशु के जीवन में एक अन्य महत्त्वपूर्ण सोपान है। अब तक अपने भोजन के लिए शिशु केवल माता के दूध पर आश्रित था, किंतु छह या सात मास के पश्चात् उसका शरीर विकसित हो जाता है और उसके लिए अधिक मात्रा में भिन्न प्रकार के भोजन की आवश्यकता होती है। इस समय तक माता के स्तनों में दूध भी घटने लगता है। अतः शिशु और माता दोनों के लिए आवश्यक है कि माता के दूध के स्थान पर शिशु के लिए किसी खाद्य की व्यवस्था की जाए। इस प्रकार अन्नप्राशन संस्कार शिशु की शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति से संबद्ध है।

गृह्य सूत्रों के अनुसार, यह संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् छठे मास में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किया जाना चाहिए। मनु और याज्ञवल्क्य आदि प्राचीन स्मृतियों का भी यही मत है। किंतु लौंगाक्षि इस काल से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार शिशु की पाचन-शक्ति के विकसित हो जाने पर अथवा दाँतों के निकलने पर अन्नप्राशन संस्कार करना चाहिए—**'षष्ठे अन्नप्राशनं जातेषु दन्तेषु वा।'**

'दाँत' शिशु में ठोस अन्न ग्रहण करने की क्षमता के विकसित होने के प्रत्यक्ष चिह्न हैं। अत: अन्नप्राशन संस्कार जन्म से छठे सौर मास या स्थगित होने पर आठवें, नौवें या दसवें मास में करना चाहिए। कुछ विद्वानों के अनुसार, बारहवें मास या एक वर्ष पूर्ण होने के बाद भी अन्नप्राशन संस्कार किया जा सकता है—

जन्मतो मासि षष्ठे वा सौरेणोत्तममन्नदन्नम्।
तदभावेऽष्टमे मासे नवमे दशमेऽपि वा॥

अंतिम सीमा एक वर्ष है। इसके बाद यह संस्कार स्थगित नहीं हो सकता, क्योंकि और भी स्थगन माता के स्वास्थ्य और शिशु की पाचन-शक्ति के विकास के लिए हानिकर होता है। अन्नप्राशन संस्कार से माता के गर्भ में मलिन भक्षणजन्य दोष, जो कि शिशु में भी आ गए रहते हैं, उनका नाश हो जाता है—

'अन्नाशनात्मातृगर्भे मलाशाद्यपि शुद्ध्यति।'

शास्त्रों में अन्न को प्राणियों का प्राण कहा गया है। अन्न से ही मन बनता है। इसलिए अन्न का जीवन में सर्वाधिक महत्त्व है। शुद्ध, सात्त्विक एवं पौष्टिक अन्न से ही शरीर एवं मन स्वस्थ रहते हैं। अन्न से केवल शरीर ही नहीं, मन, बुद्धि, तेज और आत्मा का भी पोषण होता है। इसीलिए अन्नप्राशन को संस्कार रूप में स्वीकार करके शुद्ध, सात्त्विक एवं पौष्टिक अन्न ही आजीवन ग्रहण करने का व्रत लेने हेतु यह संस्कार किया जाता है। भोजन किसी भी प्रकार का हो, यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिए कि वह लघु तथा शिशु के लिए स्वास्थ्यवर्धक हो।

अन्नप्राशन संस्कार के दिन सर्वप्रथम यज्ञीय भोजन के पदार्थ अवसरोचित वैदिक मंत्रों के साथ स्वच्छ किए और पकाए जाते हैं। भोजन तैयार हो जाने पर वाग्देवता की इन शब्दों के साथ एक आहुति दी जाती है—'देवताओं ने वाग्देवी को उत्पन्न किया है, उसे बहुसंख्यक पशु बोलते हैं। यह मधुर ध्वनिवाली, अति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रशंसित वाणी हमारे पास आवे, स्वाहा।'

द्वितीय आहुति ऊर्ज्ज को दी जाती है—'आज हम ऊर्ज्ज प्राप्त करें।' उपर्युक्त यज्ञों की समाप्ति पर पिता निम्नलिखित शब्दों के साथ चार आहुतियाँ और देता है—'मैं उत्प्राण द्वारा भोजन का उपभोग कर सकूँ, स्वाहा। निम्न वायु द्वारा भी भोजन का उपभोग कर सकूँ, स्वाहा। अपने नेत्रों द्वारा मैं दृश्य पदार्थों का आनंद ले सकूँ, स्वाहा। अपने श्रवणों द्वारा मैं यश का उपभोग करूँ, स्वाहा।' यहाँ 'भोजन' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। शिशु की समस्त इंद्रियों के लिए प्रार्थना की जाती है, जिससे वह सुखी व संतुष्ट जीवन व्यतीत कर सके।

इसके पश्चात् देवताओं का पूजन करने के बाद माता-पिता सोने या चाँदी के चम्मच से निम्नलिखित मंत्र से शिशु को हविष्यान्न (खीर) आदि अन्न चटाते हैं—

शिवौ ते स्तां ब्रीहियवाव बलासाव दोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि वाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः॥

(अथर्ववेद, ८/२/१८)

अर्थात् 'हे बालक! जौ और चावल तुम्हारे लिए बलदायक और पुष्टिकारक हों, क्योंकि ये दोनों वस्तुएँ यक्ष्मानाशक हैं तथा देवान्न होने से पापनाशक हैं।'

अन्नप्राशन संस्कार का महत्त्व यह है कि शिशु उचित समय पर अपनी माता के स्तन का दूध छोड़ दे और अन्न पर पलने लगे, ताकि उसका शरीर समयानुसार बलिष्ठ और स्वस्थ बन सके।

६. जातकर्म संस्कार

इस संस्कार से गर्भस्रावजन्य समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। शिशु का जन्म होते ही यह संस्कार करने का विधान है। अति प्राचीन काल में साधारण मानव हृदय सद्यःप्रसूता माता के दृश्य को देखकर स्वभावतः विगलित हो गया होगा। अपनी पत्नी के सहवास का सुखोपभोग करनेवाले पुरुष के लिए इस कठिन समय में प्राकृत व अतिप्राकृत संकटों से स्त्री तथा शिशु की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार जातकर्म संस्कार का प्राकृतिक आधार प्रसवजन्य शारीरिक आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों में निहित था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आदिम मानव का विस्मय, प्राकृत व अतिप्राकृत शक्तियों से भय और चिंता का भाव कालक्रम से माता और शिशु की रक्षा तथा शुद्धि के सांस्कृतिक उपायों एवं आकांक्षाओं से संयुक्त हो गया।

सर्वप्रथम अथर्ववेद (१,११) में सरल तथा सुरक्षित प्रसव के लिए एक संपूर्ण सूक्त का वर्णन है। उसमें उपचार और प्रार्थना भी है। वह सूक्त इस प्रकार है—'हे पूषन्! प्रसूति के इस अवसर पर विद्वान् और श्रेष्ठ (अर्यमा) 'होता' तेरा यजन करे। नारी भलीभाँति शिशु का प्रसव करे। स्त्री के शरीर के संधिस्थान (पर्वाणि) प्रसव करने के लिए विशेष रूप से ढीले हो जाएँ। द्युलोक की चार दिशाएँ हैं तथा जिस प्रकार भूमि को चारों दिशाएँ घेरे हुए हैं, उसी प्रकार गर्भ भी चारों ओर से घिरा हुआ है। देव उसे गति देते हैं। वे ही प्रसूति के लिए उसे गर्भाशय से बाहर करें।

सुख-प्रसविनी स्त्री जब अपने गर्भ को बाहर करती है तो हम उसकी योनि को विस्तृत करते हैं। हे सूषणे! (सुख-प्रसविनी स्त्री) तू अपने अंगों को श्लथ (ढीला) छोड़ दे। हे विष्कले! तू गर्भ को नीचे की ओर प्रेरित कर। जरायु न तो मांस में, न वसा में और न मज्जा में ही सटा हुआ है। वह अंग के अभ्यंतर को स्पर्श करनेवाला, जल में उतरानेवाले शैवाल या सेवार के समान जरायु कुत्ते आदि के खाने के लिए बाहर आवे।

मैं तेरे मेहन अथवा मूत्रद्वार को भिन्न करता हूँ तथा योनि को विस्तृत करता हूँ। योनि मार्ग में स्थित दो नाड़ियों को पृथक् करता हूँ तथा योनि को विस्तृत करता हूँ। माता और पुत्र को पृथक् करता हूँ तथा कुमार अथवा शिशु को जरायु से पृथक् करता हूँ। जिस प्रकार वायु, मन तथा पक्षी बाहर निकलकर उड़ने लगते हैं, उसी प्रकार दस मासपर्यंत गर्भ में रहनेवाले शिशु! तू जरायु से बाहर आ जा, जरायु भी बाहर आवे।'

इस सूक्त में प्रार्थना तथा अभिचार दोनों का समावेश है। पत्नी की इस प्रसवकालीन गंभीर वेदना को देखकर पति का हृदय स्वभावतः ही विचलित हो जाता था। वह उसे इस पीड़ा से यथाशीघ्र मुक्त करने के लिए व्यग्र था। माता की इस प्रसव वेदना को सरल और सहनशील कर देने के लिए देवताओं की सहायता और अभिचारिकों की शुभेच्छा के लिए प्रार्थना की जाती थी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

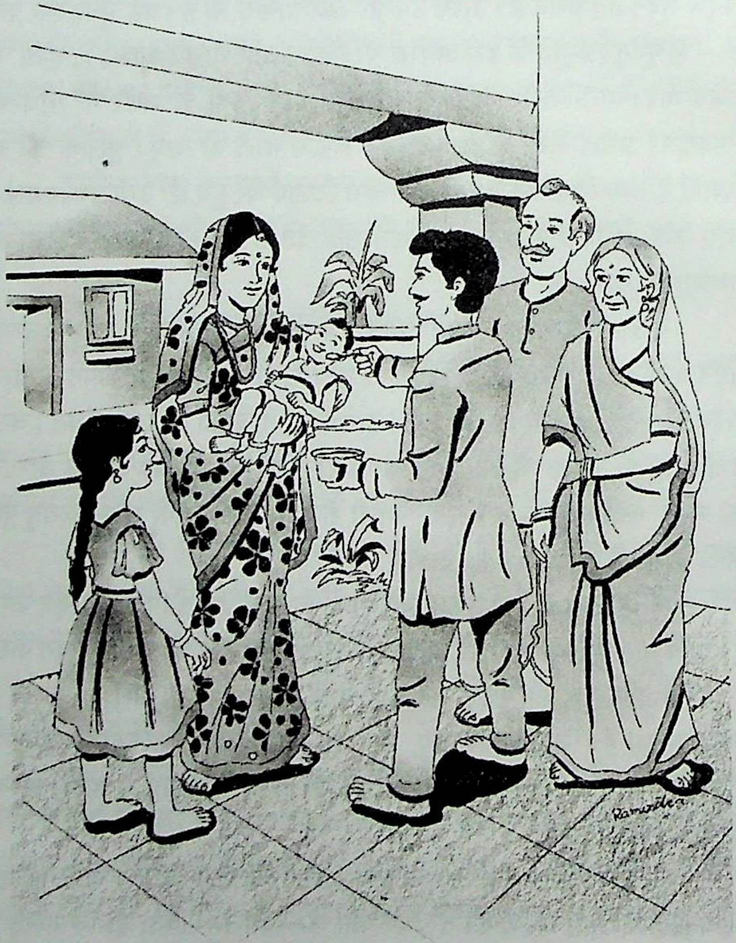

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जातकर्म संस्कार नाभि-बंधन के पूर्व संपन्न होने का विधान है—

प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रतः प्राशनश्चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्॥

(वीर मित्रोदय संस्कार, भाग १, पृष्ठ १८७ पर उद्धृत)

प्रतीत होता है कि संस्कार के लिए मूलत: यही समय नियत था, किंतु किसी कारण उक्त समय बीत जाने पर जन्म से उत्पन्न अशौच के बाद संस्कार किया जाता था और यदि मृत्यु के कारण होने वाले अशौच के मध्य शिशु का जन्म होता है तो अशौच की अवधि समाप्त होने तक जातकर्म स्थगित कर दिया जाता है—

मृतशौचस्य मध्ये तु पुत्रजन्म यदा भवेत्।
अशौचापगमे कार्यं जातकर्म यथाविधि॥

(स्मृति-संग्रह)

जन्म-कुंडली बनाने के लिए जन्म के समय के विषय में विलक्षण सावधानी बरती जाती है, क्योंकि यह शिशु के जीवन का एक निर्णायक तत्त्व माना जाता है। इसके बाद पिता को शुभ समाचार दिया जाता है। पुत्र या पुत्री के जन्म पर पिता की विभिन्न आशाओं की पूर्ति निर्भर है। अत: यह इच्छा की जाती है कि प्रथम बार पुत्र का जन्म हो, क्योंकि उससे पिता पितृऋण से मुक्त हो जाता है। किंतु एक बुद्धिमान व्यक्ति के लिए कन्या का जन्म भी कम पुण्यमय नहीं है, क्योंकि विवाह में उसके दान से पिता को पुण्य प्राप्त होता है—

ऋणमस्मिन् सन्नयति अमृतत्त्वश्च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवितो मुखम्॥

(वसिष्ठ-स्मृति, १७/१)

अर्थात् 'पुत्र का मुख देखने के लिए पिता अपनी पत्नी के निकट जाता है, क्योंकि नवजात शिशु का मुख देखते ही पिता समस्त ऋणों से मुक्त हो जाता है तथा अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।'

पुत्र का मुख देखने के पश्चात् पिता वस्त्र सहित स्नान करके परिवार के वयोवृद्धों को आमंत्रित करता है तथा नांदी श्राद्ध और जातकर्म संस्कार संपन्न करता है—

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जातं कुमारं स्वं दृष्ट्वा स्नात्वाऽऽनीय गुरून् पिता।
नान्दी श्राद्धावसाने तु जातकर्म समाचरेत॥

(ब्रह्मपुराण)

उक्त कृत्यों के पश्चात् नालच्छेदन से पूर्व वास्तविक जातकर्म संस्कार संपन्न किया जाता है। इसमें प्रथम कृत्य है मेधाजनन। यह निम्नलिखित प्रकार से होता है—

पिता अपनी चौथी अँगुली और एक सोने की शलाका से शिशु को मधु व घृत या केवल घृत चटाता है। साथ ही यह मंत्र भी उच्चारित करता जाता है—'मैं तुझमें भू: निहित करता हूँ, भुवः निहित करता हूँ, स्वः निहित करता हूँ।'

'मेधाजनन' शिशु के बौद्धिक विकास का कृत्य है। इस अवसर पर उच्चरित व्याहृतियाँ बृद्धि की प्रतीक हैं। इनका पाठ गायत्री मंत्र के साथ किया जाता है, जिसमें बुद्धि को प्रेरित करने की प्रार्थना की गई है। जो पदार्थ शिशु को चटाए जाते हैं, वे भी उसके मानसिक विकास में सहायक होते हैं। सुश्रुत के अनुसार, घी के गुण निम्नलिखित हैं—यह सौंदर्य का जनक है, मेधा (बुद्धि) बढ़ानेवाला तथा मधुर है। यह योषापस्मार, शिरोवेदना, मृगी, ज्वर, अपच तथा तिल्ली का निवारक है। यह पाचनशक्ति, स्मृति, बुद्धि, प्रज्ञा, तेज, मधुर ध्वनि, वीर्य और आयु का वर्धक है। (शरीरस्थान, अ. ४५) मधु तथा स्वर्ण के गुण भी शिशु के मानसिक विकास में समान रूप से सहायक हैं। स्वर्ण त्रिदोषनाशक है, मधु कफनाशक है तथा घृत आयुवर्धक व वात-पित्तनाशक है। इन तीनों का सम्मिश्रण आयु, लावण्य और मेधा शक्ति को बढ़ानेवाला तथा पवित्रकारक होता है। मधु और घृत में दो बूँद घृत तथा छह बूँद मधु की ली जाती है।

'गोभिल गृह्य सूत्र' में इसके साथ ही अन्य क्रिया का भी विधान है। इसके अनुसार शिशु के कान में 'तू वेद है' इस वाक्य का उच्चारण करते हुए शिशु का एक नाम रखा जाता था। यह गुह्य नाम है, केवल माता-पिता जानते हैं। इस नाम को प्रकट नहीं किया जाता, क्योंकि यह आशंका रहती है कि उस पर किसी अभिचार (जादू-टोना) का प्रयोग करके शत्रु शिशु को क्षति पहुँचा सकते हैं।

जातकर्म संस्कार का द्वितीय कृत्य है—आयुष्य। यह कृत्य नालच्छेदन के पश्चात् किया जाता है। इसमें पिता या आचार्य यज्ञ करता है तथा शिशु के दाएँ या

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बाएँ कान में आठ मंत्रों का उच्चारण करते हुए शिशु की मेधा, बुद्धि, बल, स्वास्थ्य एवं दीर्घजीवी होने की प्रार्थना निम्नलिखित मंत्रों से करता है—

अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्मान्। तेन त्वायुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।

(पारस्कर गृह्य सूत्र, १/१६-६)

अर्थात् 'जिस प्रकार अग्निदेव वनस्पतियों द्वारा आयुष्मान हैं, उसी प्रकार उनके अनुग्रह से मैं तुम्हें दीर्घायु से युक्त करता हूँ।'

ऐसे ही आठ आयुष्य मंत्रों को शिशु के कान के पास गंभीरतापूर्वक पढ़कर उसके मन को उत्तम भावों से भावित किया जाता है। पुनः पिता द्वारा पुत्र के दीर्घायु होने तथा उसके कल्याण की कामना से **ॐ दिवस्परि प्रथमं जज्ञे.** (यजुर्वेद, १२/१८-२८) आदि ग्यारह मंत्रों का पाठ करते हुए शिशु के हृदय आदि सभी अंगों का स्पर्श करने का विधान है।

इस संस्कार में माँ के स्तनों को धोकर शिशु को दूध पिलाने का विधान है। ऐसा इसलिए किया जाता है कि माँ के रक्त और मांस से उत्पन्न शिशु के लिए माँ का दूध सर्वाधिक पोषक पदार्थ है।

इस क्रिया के पश्चात् प्रसूति गृह में दस दिन तक भात एवं पीली सरसों की आहुतियों के साथ पिता या आचार्य द्वारा यज्ञ का विधान है। इससे प्रसूति गृह के रोग व उनके कीटाणु नष्ट हो जाते हैं।

जातकर्म संस्कार समाप्त होने पर ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा का विधान है। 'ब्रह्म पुराण' तथा 'आदित्य पुराण' में कहा गया है कि पुत्र के जन्म होने पर द्विजाति के घर पर संस्कार को देखने देव और पितर आते हैं। अतः यह दिन शुभ व महत्त्वपूर्ण है।

७. नामकरण संस्कार

शिशु के नाम का चुनाव सामान्यतः धार्मिक भावनाओं से संबंधित है। प्रायः किसी देवता के नाम पर ही शिशु का नामकरण कर दिया जाता है, जो उसका रक्षक माना जाता है या किसी संत-महात्मा के नाम पर रख दिया जाता है, जिसके आशीर्वाद शिशु के लिए अभीष्ट होते हैं। लौकिक भाव भी नामकरण के लिए उत्तरदायी हैं। वे व्यक्ति के किसी विशेष गुण की ओर संकेत करते

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

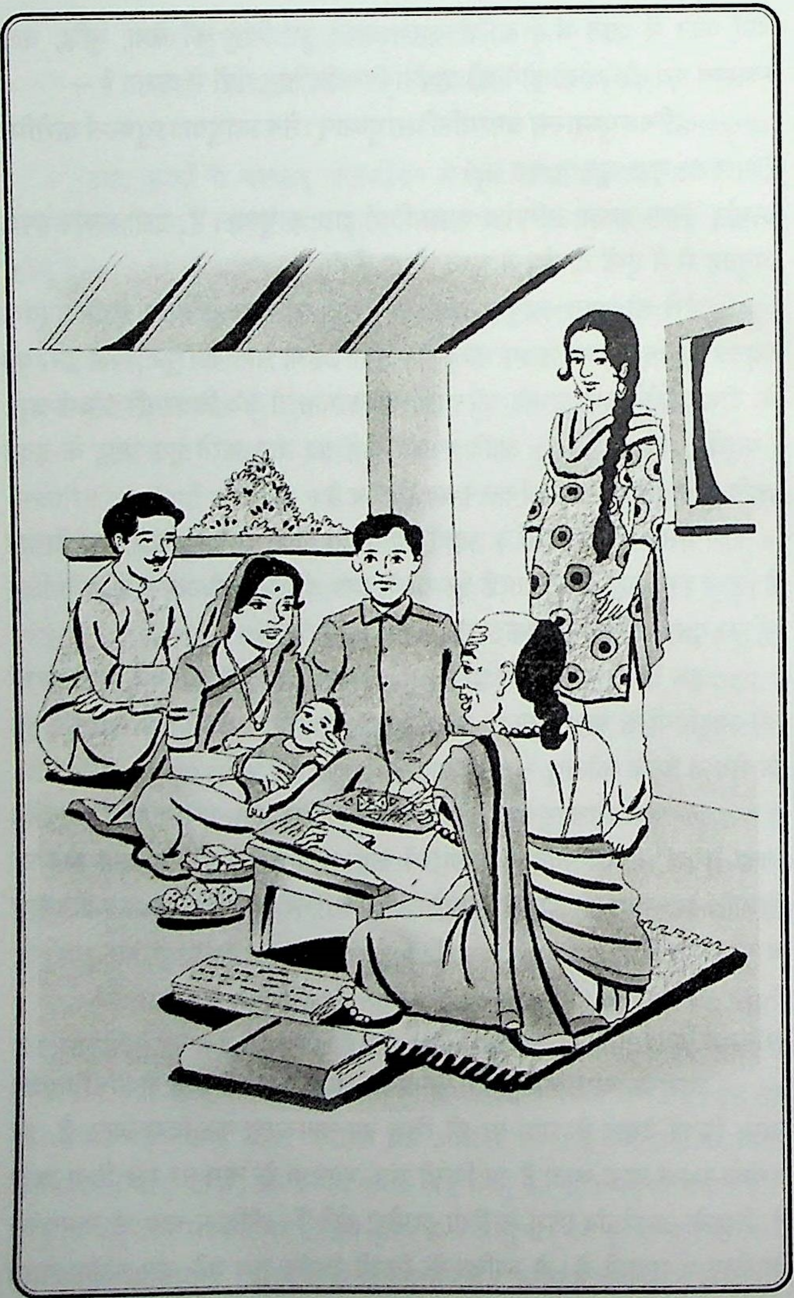

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हैं। किसी संप्रदाय विशेष में प्रवेश करने पर भी दीक्षित व्यक्ति का नवीन नामकरण किया जाता है। इस प्रकार व्यक्ति के नामकरण की पृष्ठभूमि में अनेक तत्त्व निहित हैं।

अतः नामकरण संस्कार का फल शिशु के आयु व तेज की वृद्धि एवं लौकिक व्यवहार की सिद्धि को बताया गया है। 'स्मृति-संग्रह' में कहा गया है—

आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा।
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः॥

जन्म से दस रात्रि के बाद, ग्यारहवें दिन या कुलक्रमानुसार सौवें दिन या एक वर्ष बीत जाने के बाद नामकरण संस्कार करने की विधि है। इसका एकमात्र अपवाद है 'गुह्यनाम', जो जन्म के दिन रखा जाता है। ज्योतिष विषयक ग्रंथों के अनुसार प्राकृतिक, असाधारण व धार्मिक अनौचित्य की स्थिति में उक्त दिनों में भी वह संस्कार स्थगित किया जा सकता है। संक्रांति, ग्रहण या श्राद्ध के दिन संपन्न संस्कार मंगलमय नहीं माना जाता।

नाम के अनुसार ही शिशु का रूप एवं कर्म होता है। अतः नामकरण शिशु में निहित प्राणतत्त्व की अधिकता के अनुसार किया जाता है। मनुष्य में पुरुष, गौ, अश्व, पक्षी, ऋषि, पितर, गंधर्व, असुर आदि सभी प्राणों का अंश विद्यमान रहता है; किंतु उसमें पुरुष-प्राण की प्रधानता होने से उसे पुरुष कहा जाता है।

शिशु का नामकरण उसके वंश-परंपरा के अनुसार ही रखा जाना प्रशस्त है। ब्राह्मण शिशु का नाम शर्मांत, क्षत्रिय का वर्मांत, वैश्य का प्रसादांत और शूद्र का दासांत नाम रखने की परंपरा है। किंतु वर्तमान में इस परंपरा से हटकर भी नाम रखे जा रहे हैं। भारतीय ज्योतिष के अनुसार, उपर्युक्त प्रकार से ही नामकरण का प्रावधान है, क्योंकि इसी के आधार पर शिशु की जन्मकुंडली बनती है। यदि किसी की जन्मकुंडली नहीं है तो ज्योतिषी इसके नाम के प्रथम अक्षर के आधार पर शिशु जातक का जन्म समय एवं ग्रह-योग आदि ज्ञात करके नई जन्मकुंडली बना सकते हैं। शिशु का नाम मंगलमय रखने का विधान है। नाम का प्रभाव उसके जीवन व व्यक्तित्व पर भी पड़ता है।

जननाशौच समाप्त होने पर घर प्रक्षालित व शुद्ध किया जाता है तथा शिशु और माता को स्नान कराया जाता है। वास्तविक संस्कार के पूर्व कुछ आरंभिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कृत्य संपन्न किए जाते हैं। तत्पश्चात् माता शिशु को शुद्ध वस्त्र से ढँककर तथा उसके सिर को जल से आर्द्र (गीला) करके पिता को हस्तांतरित करती है। इसके बाद प्रजापति, तिथि, नक्षत्र तथा उनके देवता, अग्नि और सोम को आहुतियाँ दी जाती हैं।

इसके बाद पिता शिशु के श्वास-प्रश्वासों को स्पर्श करता है, जिसका उद्देश्य संभवतः शिशु की चेतना का उद्बोधन तथा उसका ध्यान संस्कार की ओर आकृष्ट करना है। इसके पश्चात् शिशु का नामकरण किया जाता है। नामकरण के समय शिशु के दाहिने कान की ओर झुकते हुए पिता शिशु को इस प्रकार संबोधित करता है—'हे शिशो! तू कुलदेवता का भक्त है, तेरा नाम···है। तू···मास में उत्पन्न हुआ है, अतः तेरा नाम···है। तू ···नक्षत्र में जनमा है, अतः तेरा नाम···है तथा तेरा लौकिक नाम··· है।'

वहाँ पर एकत्र ब्राह्मण कहते हैं—'यह नाम प्रतिष्ठित है।' इसके पश्चात् पिता औपचारिक रूप से शिशु से ब्राह्मणों को प्रणाम कराता है, जो उसे 'सुंदर शिशु दीर्घायु हो' आदि आशीष देते हैं। वे 'तू वेद है' आदि ऋचा का भी उच्चारण करते हैं। अंत में शिशु का अभिवादनीय नाम रखा जाता है। तत्पश्चात् ब्राह्मण-भोजन तथा आदरपूर्वक देवताओं व पितरों को अपने-अपने स्थानों को प्रेषित करने पर संस्कार समाप्त होता है।

८. कर्णविध संस्कार

आभूषण पहनने के लिए विभिन्न अंगों के छेदन की प्रथा संपूर्ण संसार की असभ्य तथा अर्धसभ्य जातियों में भी प्रचलित है। अतः इस संस्कार का चलन अति प्राचीन काल में ही हुआ होगा। निस्संदेह आरंभ में कानों के अलंकरण के लिए इसका प्रचलन हुआ, किंतु आगे चलकर यह उपयोगी सिद्ध हुआ और इसकी उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए इसे धार्मिक स्वरूप दे दिया गया। आचार्य सुश्रुत का कथन है कि रोग आदि में रक्षा तथा भूषण या अलंकरण के निमित्त बालकों के कानों का छेदन करना चाहिए—

रक्षाभूषण निमित्तं बालकस्य कर्णौ विध्येत।'

(शारीरस्थान, १६/१)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अंडकोश-वृद्धि तथा आंत्र-वृद्धि के निरोध के लिए वे पुनः कर्णवेध का विधान करते हैं—

शंखोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्।
व्यत्यासाद्वा शिरां विध्येदन्त्रवृद्धि निवृत्तये॥

(वही, शारीरस्थान, १९/२१)

इस प्रकार यह जीवन के आरंभ में किया जानेवाला पूर्व उपाय था, जिससे उपर्युक्त रोगों का यथासंभव विरोध किया जा सके।

कर्णवेध संस्कार बालक के उपनयन के पूर्व किया जाता है। बालक में पूर्ण पुरुषत्व एवं बालिका में पूर्ण स्त्रीत्व के लिए यह संस्कार उपयोगी है। शास्त्रों में तो कर्णवेध-रहित पुरुष को श्राद्ध का अधिकारी नहीं माना गया है।

बृहस्पति के अनुसार, कर्णवेध संस्कार शिशु के जन्म के पश्चात् दसवें, बारहवें अथवा सोलहवें दिन करना चाहिए—'**जन्मतो दशमे वाह्नि द्वादशे वाऽथ षोडशे।**' (बृहस्पति, वीरमित्रोदय संस्कार, भाग १, पृष्ठ २५८ पर उद्धृत) आचार्य गर्ग के अनुसार षष्ठ, सप्तम, अष्टम अथवा द्वादश मास इस संस्कार के लिए उपयुक्त समय है। श्रीपति के अनुसार, शिशु के दाँत निकलने के पूर्व और जब शिशु माता की गोद में ही खेलता हो, उसी समय कर्णवेध संस्कार संपन्न करना चाहिए—

शिशोरजात दन्तस्य मातुरुत्सङ्गसर्पिणः।
सौचिको वेधयेत्कर्णौ सूच्या द्विगुणसूत्र या॥

(वीर मित्रोदय संस्कार, भाग १, पृष्ठ २६१)

किंतु 'कात्यायन-सूत्र' में कर्णवेध संस्कार का उपयुक्त समय शिशु के तृतीय या पंचम वर्ष का ही विधान किया गया है। कम आयु के मूल में यह विचार प्रतीत होता है कि कानों का छेदन अपेक्षाकृत सरल तथा कम कष्टकारी होगा। वर्तमान में तो प्रायः चूड़ाकरण और उपनयन के साथ ही कर्णवेध किए जाते हैं। कुल-परंपरा के अनुसार भी कर्णवेध संस्कार किए जा रहे हैं।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार—'**रक्षा भूषणनिमित्तं बालस्य कर्णों-विध्येते।**' अर्थात् बालक की शारीरिक व्याधि से रक्षा तथा कानों में आभूषण डालने के निमित्त बालक के कर्णवेध का विधान है। सौंदर्य वृद्धि की दृष्टि से स्त्रियों व

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

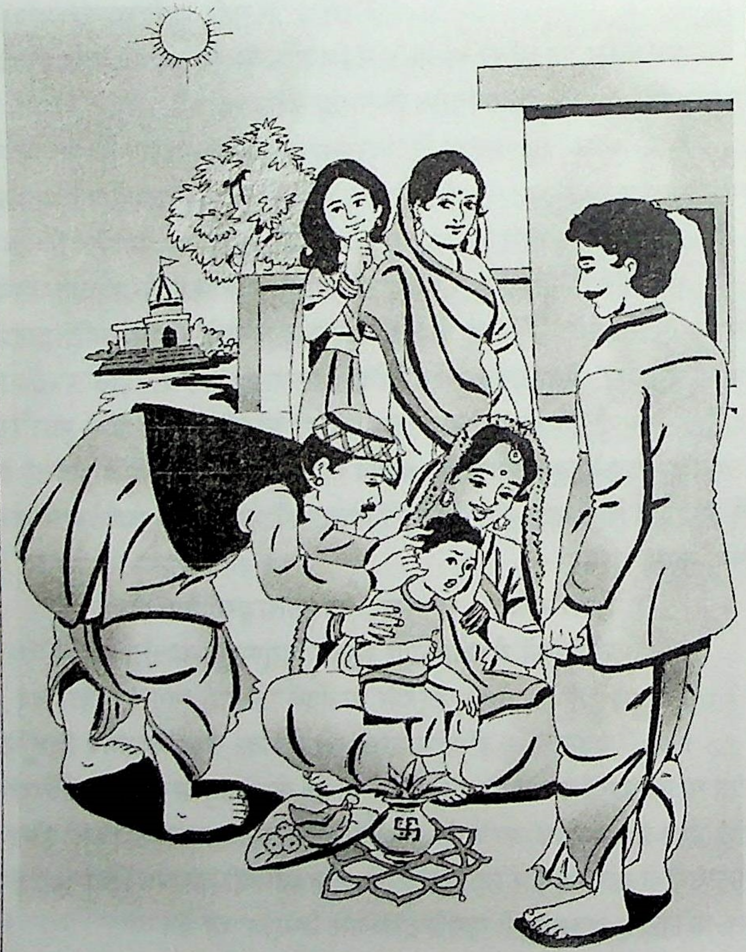

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पुरुषों के कानों में आभूषण पहने जाते थे। बालिकाओं का इसी समय नाक का भी छेदन किया जाता है, क्योंकि वे नाक में भी आभूषण धारण करती हैं।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार, आंत्र-वृद्धि (आँत की वृद्धि) की शांति के लिए कान के शंख प्रदेश के ऊपर या कानों के निचले या पार्श्व (बगल) के अंतिम भाग में सिरा का छेदन करना चाहिए। दोनों कानों का छेदन करना चाहिए। सर्वप्रथम दाहिने कान का वेधन किया जाता है तथा बाद में बाएँ कान का। दाहिना कान ब्रह्म-शक्ति से पूर्ण तेजस्वी होने का तथा बायाँ कान क्षात्र-शक्ति से पूर्ण होने का द्योतक है। इनके वेधन के साथ यह कामना की जाती है कि बालक शास्त्र एवं शस्त्र दोनों में समृद्ध हो, उसके ज्ञान व बल दोनों का समुचित विकास हो।

'सुश्रुत-संहिता' में कहा गया है कि कुशल वैद्य अपने बाएँ हाथ से दाहिने कान को खींचकर सूर्य की किरणों से चमकनेवाले देवकृत छिद्र को सावधानी से बींधे, तत्पश्चात् बाएँ कान में इसी प्रकार छिद्र करे। इस संस्कार को पूर्ण विधि से संपन्न करना चाहिए।

मनीषियों का कथन है कि सूर्य की किरणें कानों के छिद्र से प्रविष्ट होकर बालक-बालिका को पवित्र और तेज-संपन्न करती हैं। यद्यपि ब्राह्मण और वैश्य का कर्णछेदन चाँदी की सूई से, क्षत्रिय का कर्णछेदन सोने की सूई से तथा शूद्र का कर्णछेदन लोहे की सूई से करने का विधान शास्त्रों में है, तथापि वैभवशाली पुरुषों को स्वर्ण शलाका (सोने की सूई) से ही यह क्रिया संपन्न करनी चाहिए।

पवित्र स्थान पर शुभ मुहूर्त व समय पर देवताओं का पूजन करके सूर्य के सम्मुख बालक अथवा बालिका के कानों का निम्नलिखित मंत्र द्वारा अभिमंत्रण करना चाहिए—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवाँ् सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

(यजुर्वेद, २५/२१)

तत्पश्चात् सर्वप्रथम बालक के दाहिने कान में, उसके बाद बाएँ कान में सूई से छेद करना चाहिए। बालिका के सर्वप्रथम बाएँ कान, फिर दाहिने कान में बेध के बाद बाईं नासिका का भी बेध करना चाहिए। इन बेधों में बालकों को कुंडल आदि तथा बालिका को कर्णाभूषण तथा नाक में स्वर्ण की लवंग आदि

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आभूषण पहनाने चाहिए। कर्णवेध के नक्षत्र से तीसरे नक्षत्र तक लगभग तीसरे दिन अच्छी प्रकार से हलके गरम जल से नाक व कान को धोना चाहिए तथा स्नान करना चाहिए। कर्णवेध संस्कार के लिए जन्म नक्षत्र, राशि तथा दक्षिणायन निषिद्ध समय माना गया है।

कर्णवेध के धार्मिक स्वरूप ग्रहण करने पर इसका करना अनिवार्य हो गया और इसकी अवहेलना पापकर्म समझा जाने लगा। इस विषय में देवल का कथन है कि जिस ब्राह्मण (द्विज) के कर्णरंध्र में सूर्य की छाया प्रवेश नहीं करती, उस ब्राह्मण को देखते ही संपूर्ण पुण्य नष्ट हो जाते हैं। उसे श्राद्ध में आमंत्रित नहीं करना चाहिए, अन्यथा आमंत्रित करनेवाला असुर हो जाता है—

कर्णरन्ध्रे रवेश्छाया न विशेदग्रजन्मनः।
तं दृष्ट्वा विलयं यान्ति पुण्यौघाश्च पुरातनाः॥
तस्मै श्राद्धं न दातव्यं यदि चेदासुरं भवेत्।

(देवल)

कर्णवेध के लिए शिशु की जाति के अनुसार सूई का चयन किया जाता है। राजपुत्र (क्षत्रिय) के लिए स्वर्ण की शलाका, ब्राह्मण-वैश्य के लिए चाँदी की सूई तथा शूद्र के लिए लोहे की सूई का उपयोग करना चाहिए। (यह अंतर आर्थिक दृष्टि से प्रतीत होता है।)

सौवर्णी राजपुत्रस्य राजती विप्रवैश्ययोः।
शूद्रस्य चायसी सूची मध्यमाष्टांगुलात्मिका॥

(वीरमित्रोदय संस्कार, भाग १, पृष्ठ २६१)

इस संस्कार में बाद में चलकर अनेक धार्मिक तत्त्वों और सामाजिक मनोविनोद का समावेश हो गया। संस्कार के दिन केशव (श्री विष्णु), हर (शंकर), ब्रह्मा, सूर्य, चंद्र, दिक्पाल, नासत्य, सरस्वती, ब्राह्मण तथा गौ का पूजन होने लगा। कुलगुरु को अलंकृत करके उन्हें आसन व दान-दक्षिणा का प्रावधान हो गया। संस्कार की प्रसन्नता-स्वरूप कुल-परिवार व संबंधियों को मिष्टान्न व भोज की परंपरा चली। पुरोहित व कान छेदनेवाले को भी दक्षिणा का प्रावधान हो गया।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

९. चूड़ाकरण संस्कार (वपन क्रिया)

धर्मशास्त्रों के अनुसार, संस्कारी व्यक्ति के लिए दीर्घ आयु, सौंदर्य तथा कल्याण की प्राप्ति इस संस्कार का उद्‌देश्य है—**तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकार्य स्वस्तये।** (आश्वलायन गृह्य सूत्र, १७.१२)। चूड़ाकरण से दीर्घायु प्राप्त होती है तथा इसे न करने पर आयु क्षीण होती है। अत: प्रत्येक दशा में यह संस्कार करना ही चाहिए। हिंदुओं के आयुर्वेदिक ग्रंथों में भी चूड़ाकरण के प्रयोजन की पुष्टि होती है। सुश्रुत के अनुसार—केश, नख, लोम अथवा केशों के अपमार्जन छेदन से हर्ष, लाघव, सौभाग्य और उत्साह की वृद्धि तथा पाप का उपशमन होता है—

पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्।
हर्षलाघव सौभाग्यकरमुत्साहवर्धनम्॥

(चिकित्सास्थान, २४-७२)

आचार्य चरक का मत है कि केश, श्मश्रु तथा नखों के काटने व प्रसाधन से पौष्टिकता, बल, आयुष्य, शुचिता और सौंदर्य की प्राप्ति होती है।

पौष्टिकं वृष्यमायुष्यं शुचिरूपं विराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कर्तनं सम्प्रसाधनम्॥

(चरक)

चूंड़ाकर्म संस्कार के मूल में स्वास्थ्य तथा सौंदर्य की भावना ही मुख्य थी, किंतु कुछ मानव-शास्त्रियों के अनुसार—इस संस्कार का प्रयोजन बलि था, अर्थात् केश काटकर किसी देवता को अर्पित कर दिए जाते थे।

चूड़ाकरण संस्कार में मुंडन के लिए सिर भिगोने का अथर्ववेद (६,६८,१) में वर्णन है। मुंडन में व्यवहार में आनेवाले छुरे की स्तुति तथा उससे अहितकर न होने की प्रार्थना का भी उल्लेख है—'नाम से तू शिव है, लोहा तेरा पिता है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ। तू शिशु की हिंसा अथवा क्षति न कर'—

ओम शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा माहिꣳसीः।

(यजुर्वेद, ३.६३)

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक काल में भी चूड़ाकरण एक धार्मिक संस्कार था, जिसमें सिर भिगोना, छुरे की स्तुति, नाइन को निमंत्रण, वैदिक मंत्रों के साथ केशोच्छेदन तथा दीर्घायुष्य, समृद्धि, वीर्य एवं शिशु की संतान के लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कल्याण की कामना की जाती थी।

चूड़ाकरण संस्कार शिशु की पाँच वर्ष की अवस्था के बाद होता है। शिशु की माता के रजस्वला होने पर उसके शुद्ध होने तक यह संस्कार स्थगित कर दिया जाता है, क्योंकि इस अवधि में यह संस्कार होने पर अनेक दुष्परिणाम की आशंका होती है। नारी विधवा हो सकती है, ब्रह्मचारी जड़ (मूर्ख) हो सकता है, शिशु की मृत्यु हो सकती है आदि।

शिशु के चौलकर्म या मुंडन संस्कार या वपन क्रिया का महत्त्व शास्त्रों में विशेष रूप से बताया गया है। इसे प्रायः तीसरे, पाँचवें या सातवें वर्ष या कुल की परंपरा के अनुसार करने का विधान है। चूड़ाकर्म का दूसरा नाम मुंडन संस्कार भी है।

शरीर में केश व लोम का वही स्थान है, जो लोहे में जंक (जंग) का। जिस प्रकार लोहे का मल भाग जंक रूप में प्रकट होता है, उसी प्रकार शरीर का अनात्म मल भाग केश-लोम द्वारा निस्सारित होता (निकलता) है। केश और लोम क्रमशः औषधियों और वनस्पतियों के मल माने जाते हैं। फल देने के बाद जो पौधे नष्ट हो जाते हैं उन्हें औषधि तथा फल पकने के बाद भी बने रहनेवाले वृक्ष आदि वनस्पति कहे जाते हैं। औषधि सोम-प्रधान और वनस्पति अग्नि-प्रधान हैं। इसी दृष्टि से 'लोम' सोम के मल और केश अग्नि के मल हैं। सोम-प्रधान होने के कारण 'लोम' का 'वपन' (काटना या छीलना) निषिद्ध है। अतः केवल अग्नि-प्रधान केशों का ही वपन (मुंडन) किया जाता है।

विधि निर्देश के अनुसार, शरीर के बाहर जो केश हैं, उनमें पवित्रीकरण न होने से वे त्याज्य हैं। इसलिए उनका वपन (मुंडन) आवश्यक है। केश जब तक शरीर में रहते हैं, कर्मों एव संस्कारों द्वारा तब तक उनमें पवित्रता बनी रहती है; किंतु शरीर से पृथक् हो जाने पर वे सर्वथा अपवित्र हो जाते हैं। चूँकि अपवित्र बालों को बार-बार वपन करने का विधान है, इसलिए सर्वप्रथम उनका वपन करते समय जिस विधि का आश्रय लिया जाता है, उसे ही चूड़ाकर्म संस्कार कहा जाता है। इस संस्कार में मंत्रों द्वारा सोम तथा अग्नि आदि देवताओं से प्रार्थना की जाती है कि वे बालक के लिए कष्टदायी और अहितकर न हों।

चूड़ाकर्म में शिखावपन का निषेध है। इसका कारण यह है कि जिस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्थान पर शिखा होती है, वह ब्रह्मरंध्र कहा जाता है। केशों द्वारा ब्रह्मरंध्र से होकर सूर्य के प्राण शरीर में प्रवेश करते हैं और उसी मार्ग से शरीर में स्थित प्राण सूर्य की ओर जाते हैं। इसीलिए संध्या-वंदन, ध्यान, उपासना और समाधि के समय शिखा बाँधने का नियम है, ताकि अंत:करण का प्रकाश या तेज धूप सूर्य के आकर्षण से बाहर न निकल सके। शिखा बँध जाने के बाद ब्रह्मरंध्र बंद हो जाता है।

बालक के सिर के बाल अनेक कारणों से दूषित होते हैं। यह दूषण गर्भावस्था से लेकर मुंडन संस्कार के पूर्व तक होता है। गर्भ के अनेक दूषित जीवाणु बालक के सिर में होते हैं, जिसके कारण बालक को फोड़े-फुंसियाँ, आँख का दुखना आदि छोटी-मोटी बीमारियाँ घेरे रहती हैं। इसलिए पहले, तीसरे, पाँचवें या सातवें वर्ष में बालक के सिर के बाल अवश्य कटवा (वपन करा) लेने चाहिए।

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार—चूड़ाकर्म संस्कार किसी शुभ मुहूर्त व दिन में ही संपन्न करने का विधान है। इस कार्य को विधिपूर्वक करना ही चूड़ाकर्म संस्कार है। मस्तक के ऊपर जहाँ बालों का भँवर होता है, वहाँ शरीर की संपूर्ण नाड़ियों का मेल होता है। इस स्थान को 'अधिपति' नामक मर्मस्थान कहते हैं। इस मर्मस्थान की सुरक्षा के लिए मनीषियों ने इस स्थान पर चोटी (शिखा) रखने का विधान किया है—

नि वर्तयाभ्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥

(यजुर्वेद, ३/६३)

अर्थात् 'हे बालक! मैं तेरी दीर्घायु के लिए तथा तुझे अन्न के ग्रहण करने में समर्थ बनाने के लिए, उत्पादन शक्ति प्राप्त करने के लिए, ऐश्वर्य वृद्धि के लिए तेरा चूड़ाकरण (मुंडन) संस्कार करता हूँ।'

उक्त मंत्र से बालक को संबोधित करके शुभ मुहूर्त में कुशल नाई से बालक का मुंडन करवाकर, सिर में दही-मक्खन लगाकर तत्पश्चात् बालक को स्नान कराकर मांगलिक क्रियाएँ की जाती हैं।

चूड़ाकरण संस्कार के बाद बालक के दाँतों का निकलना आसान हो जाता है। इसलिए यथासंभव एक वर्ष के भीतर ही यह संस्कार जरूरी है। कठोर दाँत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तीन वर्ष की अवस्था में निकलते हैं। अतः यह संस्कार तीसरे वर्ष में भी किया जा सकता है।

१०. उपनयन (व्रतादेश) संस्कार

अथर्ववेद में 'उपनयन' शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी को ग्रहण करने के अर्थ में हुआ है। **'उपनयनमानो ब्रह्मचारिणम्।'** (अथर्ववेद, ११.५.३) यहाँ इसका आशय आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी को वेद-विद्या में दीक्षा से है। ब्राह्मण काल में भी 'उपनयन' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता था। सूत्र काल में भी विद्यार्थी द्वारा ब्रह्मचर्य के लिए प्रार्थना और आचार्य द्वारा उसकी स्वीकृति ही संस्कार के केंद्रबिंदु थे।

परवर्ती काल में 'उपनयन' का रहस्यात्मक महत्त्व बढ़ने पर गायत्री मंत्र द्वारा द्वितीय जन्म की धारणा ने विद्या में शिक्षा के मूल विचार को आच्छादित कर लिया। मनु के अनुसार द्वितीय जन्म (वैदिक या ब्रह्म जन्म) में, जिसका प्रतीक मूँज से बनी मेखला धारण करना है, 'सावित्री' ब्रह्मचारी की माता और आचार्य उसका पिता है—

तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धन चिह्नितम्।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते॥

(मनुस्मृति, २/१७०)

अनेक आचार्यों ने इस संस्कार का नाम ही 'सावित्री-वचन' (सावित्री की शिक्षा) दिया है। याज्ञवल्क्य के 'उपनयन' शब्द पर अपरार्क की टीका में कहा गया है कि 'उपनयन' शब्द से अंतेवासी (छात्र) और गायत्री के बीच संपर्क अभिप्रेत है, जिसकी स्थापना आचार्य करता है। और भी आगे चलकर 'उपनयन' शब्द का प्रयोग अभिभावकों द्वारा छात्र को आचार्य के निकट ले जाने के अर्थ में होने लगा। अब 'उपनयन' का अर्थ हो गया—वह कृत्य, जिसके द्वारा बालक आचार्य के समीप ले जाया जाय—

'उप समीपे आचार्यादीनां बटोर्नयनं प्रापणमुपनयनम्।'

वर्तमान समय में संस्कार संबंधी आधुनिकतम विकास में इसका शिक्षा का अर्थ पूर्णतः लुप्त हो चुका है। अब 'उपनयन' शब्द का प्रयोग एक विशेष

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संस्कार के अर्थ में किया जाता है, जो द्विजन्मा के विवाह के पूर्व किसी समय भी किया जा सकता है। इस अर्थ में इसे 'जनेऊ' कहा जाता है, जिसका अभिप्राय उस संस्कार से है, जिसमें बालक को यज्ञोपवीत पहनाया जाए। जबकि वैदिक काल में छात्र को ब्रह्मचारी और अध्यापक को आचार्य कहा जाता था। ब्रह्मचारी का उपनयन उसका द्वितीय जन्म माना जाता था। आचार्य उपनयन करता हुआ ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करता है। वह तीन-रात्रि पर्यंत उसे अपने उदर में रखता है। जब वह जन्म (नवीन द्वितीय जन्म) ग्रहण करता है तो देवगण उसे देखने के लिए एकत्र होते हैं।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयति देवाः॥

(अथर्ववेद, १५.५.३)

ब्राह्मण काल में उपनयन को पूर्णतः कर्मकांड का रूप मिल गया और इसकी विधि धीरे-धीरे स्थिर व निश्चित होने लगी थी। उस काल में ब्रह्मचारी स्वयं आचार्य के पास जाता और उसका छात्र बनने की अपनी इच्छा प्रकट करता था। वह कहता था—'मैं ब्रह्मचर्य के लिए आया हूँ, कृपया मुझे ब्रह्मचारी होने की अनुज्ञा प्रदान करें।' इस पर आचार्य ब्रह्मचारी का नाम पूछता और उसे अपने छात्र के रूप में ग्रहण करता था।

इसके पश्चात् वह ब्रह्मचारी का हाथ पकड़कर अनेक ऋचाओं का उच्चारण करता हुआ उसकी रक्षा के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था। वह ब्रह्मचारी के आचार और व्यवहार के मार्गदर्शन के लिए पाँच आज्ञाएँ भी (पाँच यमों के पालन का आदेश) देता था। तब ब्रह्मचारी को गायत्री मंत्र का उपदेश दिया जाता और आचार्य तीन दिनों तक पूर्णतः संयम (यम और नियम) का पालन करता था।

उपनिषद् काल में चार आश्रमों के सिद्धांत की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और ब्रह्मचर्य या छात्र-जीवन को एक सम्मानित संस्था का रूप मिल चुका था। ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए भी आचार्य का महत्त्व मान्य हो गया था तथा आचार्य ही अंतिम गति था—**'आचार्यस्तु ते गतिर्वक्ता।'** (छांदोग्य उपनिषद्)। 'उपनयन' आचार्य के निकट जाने और ब्रह्मचर्य जीवन (छात्र जीवन) में प्रवेश के अतिरिक्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अन्य कुछ भी नहीं रह गया था। किंतु प्रवेश का द्वार सभी के लिए उन्मुक्त नहीं था। आचार्य की निश्चित शर्तों को पूरा करने पर ही ब्रह्मचारी गुरुकुल में प्रविष्ट किए जाते थे। गुह्यविद्या संदेहशील व अशिष्ट विद्यार्थी को नहीं दी जाती थी। अनन्य भक्त और सर्वगुण-संपन्न छात्र ही इसका अधिकारी था।—

'एतद् गुह्यतमं नापुत्राय नाशिष्याय कीर्तयेदन्यभक्ताय सर्वगुणसम्पन्नाय दद्यात्।' (तैत्तिरीय उपनिषद्)

ब्रह्मचारी आचार्य के घर पर ही रहते थे और इसके बदले में वे गुरु की सेवा करते थे, जैसे गायों को चराना तथा यज्ञीय अग्नि को निरंतर प्रदीप्त रखना। सत्यकाम जाबाल के आख्यान से ज्ञात होता है कि उसे गुरु की गायों के साथ रहने और तब लौटने का आदेश दिया गया था, जब उनकी संख्या बढ़कर एक हजार हो जाए। निष्कर्षतः पूर्वजन्म के अशुभ संस्कारों के शोधन एवं नवीन शुभ संस्कारों की स्थापना के लिए तथा द्विजत्व की प्राप्ति के लिए प्रत्येक द्विज बालक (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के लिए उपनयन संस्कार अनिवार्य है।

उपनयन संस्कार उस समय किया जाता है, जब बालक का मानसिक विकास तीव्र गति से होने लगता है। इसी समय उसकी भावनाओं में परिवर्तन संभव है। अतः ब्राह्मण बालक का आठवें, क्षत्रिय बालक का ग्यारहवें तथा वैश्य बालक का बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार करना अनिवार्य है। यदि इस अवस्था तक यह संस्कार नहीं हो सके तो ब्राह्मण बालक का सोलहवें, क्षत्रिय बालक का बाईसवें तथा वैश्य बालक का चौबीसवें वर्ष में यह संस्कार अवश्य हो जाना चाहिए, अन्यथा दोष लगता है।

उपनयन संस्कार से बालक में द्विजत्व की प्राप्ति होती है। शास्त्रों व पुराणों में कहा गया है कि यज्ञोपवीत संस्कार से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालक का द्वितीय जन्म होता है। प्रथम तो माता के गर्भ से और दूसरा उपनयन संस्कार से। विधिवत् यज्ञोपवीत धारण करना इस संस्कार का मुख्य अंग है। इस संस्कार से ही अपने आत्यंतिक कल्याण के लिए वेदाध्ययन तथा गायत्री मंत्र के जप और श्रौत-स्मार्त आदि कर्म करने का अधिकार प्राप्त होता है।

शास्त्र विधि से उपनयन संस्कार के लिए शुभ समय, मुहूर्त, लग्न आदि का होना अनिवार्य है। साधारणतः उपनयन सूर्य के उत्तरायण होने पर ही किया जाता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है, किंतु वैश्य बालक के लिए दक्षिणायन भी विहित है—**'दक्षिणे तु विशां कुर्यात्'**। विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न ऋतुएँ निश्चित हैं। ब्राह्मण बालक के लिए वसंत ऋतु, क्षत्रिय के लिए ग्रीष्म ऋतु तथा वैश्य के लिए शरद ऋतु—**'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यं वर्षासु रक्षकारमिति।** (बौधायन गृह्य सूत्र, ११.५.६)

बाद में ज्योतिष विषयक विद्वानों ने माघ से आषाढ़ पर्यंत विभिन्न मासों के साथ भिन्न-भिन्न गुणों का योग कर दिया और कहा, 'जिस बालक का उपनयन माघ मास में किया जाता है, वह समृद्ध होता है; जिसका उपनयन फाल्गुन मास में होता है, वह बुद्धिमान होता है; चैत्र में उपनयन होने पर वेदों में निष्णात तथा पारंगत होता है; वैशाख में उपनयन होने पर समस्त सुख-भोगों से संपन्न, ज्येष्ठ में प्राज्ञ व व श्रेष्ठ तथा आषाढ़ में शत्रुओं का महान् विजयी व विख्यात महापंडित होता है—

माघे मासि महाधनो धनपतिः प्रज्ञायुतः फाल्गुने
मेधावी भवति व्रतोपनयेन चैत्रे च वेदान्वितः।
वैशाखे निखिलोपभोगसहितो ज्येष्ठे वरिष्ठो बुध-
स्त्वाषाढ़े सुमहाविपक्षविजयी ख्यातो महापण्डितः॥

(राजमार्त्तंड, वीरमित्रोदय संस्कार, भाग १, पृष्ठ ३५४)

शास्त्र विधि से उपनयन संस्कार हो जाने के पश्चात् गुरु या आचार्य बालक के कंधों तथा हृदय का स्पर्श करते हुए कहता है—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

अर्थात् 'मैं वैदिक तथा लौकिक शास्त्रों के ज्ञान करानेवाले वेदव्रत व विद्याव्रत नामक दो व्रतों को तुम्हारे हृदय में स्थापित कर रहा हूँ। तुम्हारा चित्त (मन) या अंत:करण मेरे अंत:करण का ज्ञानमार्ग में अनुसरण करता रहे—अर्थात् जिस प्रकार मैं तुम्हें उपदेश करता हूँ, उसे तुम्हारा चित्त ग्रहण करता चले। मेरी बातों को तुम एकाग्र मन से समाहित होकर सुनो और ग्रहण करो। प्रजापति ब्रह्मा एवं बुद्धि-विद्या के स्वामी बृहस्पति तुम्हें मेरी विद्याओं से संयुक्त करें।'

उपनयन संस्कार मुख्यत: बालक को संयमित जीवन के साथ आत्मिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विकास का व्रत लेने का विधान है। इस संस्कार का मुख्य संबंध गुरुकुल प्रथा से है। जब बालक को प्रथम बार गुरुकुल में भेजा जाता था तो आचार्य सर्वप्रथम उसका हेमाद्रि करके मुंडन कराता था। इसके बाद उसे मेखला, दंड, कौपीन आदि धारण कराता था और उस बालक को ब्रह्मचारी स्वीकार करता था तथा बालक से हवन कराकर उसे अपने कर्तव्य शुद्ध करने, दिन में न सोने, वाणी पर संयम रखने आदि का उपदेश देता था। तत्पश्चात् उसके कान में तीन बार गायत्री-मंत्र का उपदेश करता था। इसके बाद वह बालक गुरु का अभिवादन करके भिक्षा माँगकर लाता था और उसे गुरु को अर्पण कर देता था। इस संस्कार के संपन्न होने पर ही आचार्य उसको वेदाध्ययन आरंभ कराते थे। गुरुकुल परंपरा समाप्त होने पर भी यह संस्कार उस पूर्ण विधि से न होकर प्रतीक रूप में होता है, जिसका कोई विशेष प्रभाव बालकों पर होता दिखाई नहीं देता। जबकि प्राचीनकाल में मात्र वाणी से ही उपयुक्त शिक्षाएँ नहीं दी जाती थीं, अपितु गुरुजन तत्परतापूर्वक शिष्यों से इन उपदेशों का जीवन में पालन करने की व्यावहारिक शिक्षा देते थे।

उपनयन संस्कार के बाद बालक में तेज, बल और वीर्य का आधान होता है। ये तीनों तत्त्व ईश्वर से उत्पन्न माने गए हैं। इस त्रिवृत्त को एक करके ईश्वर स्वयं उसमें अधिष्ठित होता है। इसलिए यज्ञोपवीत में प्रथम तीन सूत्रों को त्रिवृत्त करके तथा उसके बाद उनके तीन सूत्र और बना दिए जाते हैं। परमेश्वर के ध्यानसूचक यज्ञोपवीत में तीन या पाँच ग्रंथियाँ लगाई जाती हैं, उसे ब्रह्म ग्रंथि कहा जाता है। ध्यान, उपासना और मंत्र-जप, तर्पण आदि कर्मों के संपादन के समय इस ब्रह्म-ग्रंथि को आधार माना जाता है।

उपनयन संबंधी विधि-विधानों की समाप्ति पर विद्यार्थी तीन दिन पर्यंत कठोर संयम से व्रत का पालन करता था। इसे त्रिरात्र व्रत कहते थे। यह व्रत बारह दिन अथवा बारह मास का भी हो सकता था। यह विद्यार्थी जीवन के कठोर अनुशासन का आरंभ था। इसमें क्षार-भोजन वर्जित था, विद्यार्थी को भूमि पर शयन करना पड़ता था। वह दिन में शयन नहीं कर सकता था। इस व्रत के अंत में बुद्धि, स्मृति तथा प्रज्ञा को तीक्ष्ण करने के लिए ईश्वरीय सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से 'मेधा जनन' की विधि संपन्न की जाती थी। इसको मेधा जनन इसलिए कहा जाता था, क्योंकि इसके अनुष्ठान से वैदिक ज्ञान को ग्रहण करने में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

समर्थ मेधा (बुद्धि) प्राप्त होती है।

इस विषय में शौनक का कथन है—'जगत् की धात्री सावित्री देवी स्वयं ही मेधा-स्वरूपिणी हैं। विद्या में सिद्धि प्राप्त करने के लिए इच्छुक व्यक्ति को मेधा की वृद्धि के लिए उसकी पूजा करनी चाहिए'—

या सावित्री जगद्धात्री सैव मेधास्वरूपिणी।
मेधाप्रसिद्धये पूज्या विद्यासिद्धिमभीप्सिता॥

(शौनक, वीर मित्रोदय संस्कार, भाग १, पृष्ठ ४४)

आधुनिक काल में उपनयन के शैक्षणिक प्रयोजन के अभाव में शैक्षणिक महत्त्व के अंगभूत उक्त विधि-विधान भी प्रचलित नहीं रह गए हैं। कतिपय नवीन तत्त्व, जिनसे धर्मशास्त्र भी अपरिचित हैं, उपनयन संस्कार में समाविष्ट हो चुके हैं। ये औपचारिक कृत्य भिक्षा-कृत्य के पश्चात् संपन्न किए जा रहे हैं। इसमें बटुक (विद्यार्थी) एक अनुकरणपरक तथा नाटकीय कृत्य करता है। वह शिक्षा के लिए काशी या कश्मीर जाने का अभिनय करता है; किंतु (देशकाल के अनुसार) मामा या बहनोई उसका विवाह कराने का आश्वासन देकर उक्त स्थानों को जाने से रोकता है। उपनयन संस्कार के शैक्षणिक आदर्श की कितनी विचित्र विडंबना है! विवाह की प्रथा के कारण समावर्तन संस्कार भी, जो प्राचीनकाल में शिक्षा समाप्त होने पर संपन्न होता था, उपनयन संस्कार के दिन ही कर दिया जाने लगा है।

११. वेदारंभ संस्कार या वेद स्वाध्याय

अधिकांश गृह्य सूत्रों व धर्मसूत्रों में इस संस्कार का उल्लेख नहीं मिलता। सर्वप्रथम 'व्यास स्मृति' में ही वेदारंभ संस्कार का उल्लेख हुआ है। संस्कारों के इतिहास में एक अन्य क्रांतिकारी परिवर्तन स्मृतियों के काल में हुआ, जिसके कारण 'वेदारंभ' एक स्वतंत्र संस्कार के रूप में अस्तित्व में आया। इसके पूर्व उपनयन संस्कार के साथ ही गुरुकुलों में वेदों का अध्ययन आरंभ हो जाता था। वास्तव में बालक का गुरुकुल में जाना ही 'उपनयन' था, जिसके तत्काल बाद ही विद्यार्थी जीवन का आरंभ होता था और पवित्र गायत्री मंत्र से वैदिक स्वाध्याय का आरंभ समझा जाता था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किंतु बाद के काल में जब संस्कृत बोलचाल की भाषा या सहज बोधगम्य नहीं रह गई तो उपनयन एक दैहिक संस्कार मात्र रह गया। अब इस संस्कार के संपन्न होने के पूर्व ही विद्यार्थी लोक भाषा का अध्ययन आरंभ कर देता है। वह आचार्य भी, जो उपनयन संपन्न कराता था, विद्यार्थी को अपने नियंत्रण में करने के लिए उत्सुक नहीं रह गया था। इसलिए उपनयन संस्कार के अतिरिक्त एक संस्कार करना आवश्यक समझा गया, जिससे वैदिक स्वाध्याय का आरंभ किया जा सके।

इस संस्कार का उल्लेख सर्वप्रथम 'व्यास-स्मृति' में हुआ है। उसमें व्रतादेश (उपनयन का एक नवीन नाम) तथा वेदारंभ में भेद (अंतर) किया गया है। वेदारंभ संस्कार विशुद्ध रूप से शिक्षा संबंधी संस्कार है, जो उस समय संपन्न किया जाता था, जब विद्यार्थी वास्तव में वैदिक स्वाध्याय आरंभ करता था। कालांतर में इसी कारण वेदारंभ को उपनयन और समावर्तन संस्कार के मध्य में स्थान दिया गया।

उपनयन के पश्चात् वेदारंभ संस्कार करने के लिए किसी शुभ दिन के आरंभ में मातृपूजा, आभ्युदयिक श्राद्ध तथा अल्प आवश्यक कृत्य किए जाते थे। तब आचार्य लौकिक अग्नि प्रतिष्ठित करके विद्यार्थी को अग्नि की पश्चिम दिशा में बैठाता था। इसके बाद साधारण आहुतियाँ दी जाती थीं। यदि विद्यार्थी को ऋग्वेद का अध्ययन आरंभ करना होता था तो घृत की दो आहुतियाँ अग्नि व पृथ्वी को दी जाती थीं। यदि यजुर्वेद का अध्ययन आरंभ करना होता था तो अंतरिक्ष व वायु को, यदि सामवेद का अध्ययन आरंभ करना होता था तो द्यौ और सूर्य को और यदि अथर्ववेद का अध्ययन आरंभ करना होता था तो दिशाओं तथा चंद्र को आहुतियाँ दी जाती थीं। यदि सभी वेदों का अध्ययन आरंभ करना होता तो उक्त सभी आहुतियाँ साथ ही दी जाती थीं। इसके अतिरिक्त ब्रह्म, छंदस् तथा प्रजापति के लिए होम किए जाते थे। अंत में आचार्य, ब्राह्मण, पुरोहित को पूर्णपात्र और दक्षिणा देकर वेद का अध्यापन आरंभ होता था।

वास्तव में वेदारंभ संस्कार का संबंध भी गुरुकुल प्रथा से ही है। जब गुरुकुल का आचार्य बालक को यज्ञोपवीत धारण करा कर उसे संयमित जीवन जीने की प्रतिज्ञा कराकर ही वेदाध्ययन कराता था। उपनयन हो जाने पर द्विज

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बालक को वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त हो जाता है। ज्ञानस्वरूप वेदों के सम्यक् अध्ययन से पूर्व 'मेधाजनन' नामक एक उपांग संस्कार करने का भी विधान है। इस क्रिया से बालक की मेधा, प्रज्ञा तथा श्रद्धा की अभिवृद्धि होती है और वेदाध्ययन आदि में विशेष अनुकूलता प्राप्त होती है। ज्योतिनिर्बंध में कहा गया है—

विद्याया लुप्यते पापं विद्ययाऽऽयुः प्रवधम्।
विद्यया सर्वासिद्धिः स्याद्विद्ययाऽमृतमरनुते॥

अर्थात् 'वेद विद्या के अध्ययन से समस्त पापों का लोप होता है, आयु की वृद्धि होती है, सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, यहाँ तक कि उसके समक्ष साक्षात् अमृत रस अशन-पान के रूप में उपलब्ध हो जाता है।'

असंयमित जीवन जीनेवाले वेदाध्ययन के अधिकारी नहीं माने जाते। क्योंकि वे वेदों के गूढ़ रहस्यों को नहीं समझ सकते तथा उनके दुरुपयोग की आशंका बढ़ जाती है। इसीलिए वेदों के विधिवत् अध्ययन हेतु बालक का वेदारंभ-संस्कार किया जाता था, जिससे वह गुरु के पास बैठकर वेद का विधिवत् अध्ययन कर सके तथा अपनी समस्त शंकाओं का समाधान कर सके। दुःखों का अंत ज्ञान से ही संभव है। वेद में कहा गया है—**'भरते ज्ञानान्नमुक्तिः।'** अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। आगे भी कहा गया है—**'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।'** अर्थात् ज्ञान के समान कोई भी पवित्र वस्तु नहीं है।

इसीलिए वेदाध्ययन को परम आवश्यक मानकर उसे संस्कारों में स्थान दिया गया। क्योंकि समस्त धर्मों का मूल वेद है—**'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।'** इसीलिए यह संस्कार सभी द्विजातियों को करना अनिवार्य था।

गणेश और सरस्वती देवी की पूजा करने के बाद वेदारंभ (विद्यालय) में प्रविष्ट होने का विधान किया गया है। शास्त्रों में वेदों का स्वाध्याय (अध्ययन) निषिद्ध तिथियों में न करने को कहा गया है। वेदारंभ संस्कार में सर्वप्रथम बालक को गायत्री मंत्र का उपदेश दिया जाता था। बालक को दंड, मेखला एवं वस्त्र धारण कराकर उसका महत्त्व बतलाया जाता था। इसके बाद वह भिक्षा माँगकर लाता था, जिसे आचार्य को समर्पित कर देता था। आचार्य उस भिक्षा में से कुछ अंश निकालकर शेष भिक्षा ब्रह्मचारी को वापस कर देता था। इसके बाद यज्ञ-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कार्य संपन्न हो जाता था।

इस संस्कार के संपन्न होने पर बालक आचार्य का अभिवादन करता था तथा आचार्य व अन्य उपस्थित जन बालक को आशीर्वाद देते थे। इस क्रिया के संपन्न होने के बाद ही बालक को वेदारंभ कराया जाता था।

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति ही इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य है। वेदव्रत नामक संस्कार में महानाम्नी, महान्, उपनिषद् और उपाकर्म नामक चार व्रतों को करने का विधान था। इसमें उपाकर्म तो प्रतिवर्ष श्रावण मास में होता है, शेष तीन में प्रथम 'महानाम्नी' में प्रतिवर्ष के अंत में सामवेद के आर्चीक के नौ ऋचाओं का पाठ होता था। प्रथम व मुख्य ऋचा इस प्रकार है—

विदा मघवन् विदा गातुमनुशँ्सिषो दिशः।
शिक्षा शचीनांपते पूर्वीणां पुरूवसो॥

(सामवेद, ६४१)

इसका भावार्थ यह है—'अत्यंत वैभवशाली, उदार एवं पूज्य परमात्मन्! आप संपूर्ण वेद विद्याओं के ज्ञान से संपन्न हैं, आप सन्मार्ग और गम्य दिशाओं को भी ठीक-ठीक जानते हैं। हे आदिशक्ति के स्वामिन्! आप हमें शिक्षा का सांगोपांग रहस्य बतला दें।'

द्वितीय तथा तृतीय वर्षों में क्रमशः 'वैदिक महाव्रत' तथा 'उपनिषद्-व्रत' किया जाता था, जिसमें वेदों की ऋचाओं तथा उपनिषदों का श्रद्धापूर्वक पाठ किया जाता था और अंत में सावित्री-स्नान होता था। इसके बाद ही वेदाध्यायी 'स्नातक' कहलाता था। इस प्रक्रिया में सभी मंत्र-संहिताओं का गुरु के मुख से श्रवण तथा मनन करना होता था। यह वेदारंभ मुख्य रूप से ब्रह्मचर्याश्रम संस्कार है।

१२. केशांत (गोदान) संस्कार

इस संस्कार का संबंध भी गुरुकुल प्रथा से है। केशांत अथवा प्रथम क्षौरकर्म चार वैदिक व्रतों में से एक था। केशांत संस्कार में ब्रह्मचारी के श्मश्रु का सर्वप्रथम क्षौर किया जाता था। इसे 'गोदान' भी कहते थे, क्योंकि इस अवसर पर आचार्य को गौ का दान किया जाता था तथा नापित (नाई) को उपहार दिए जाते थे।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

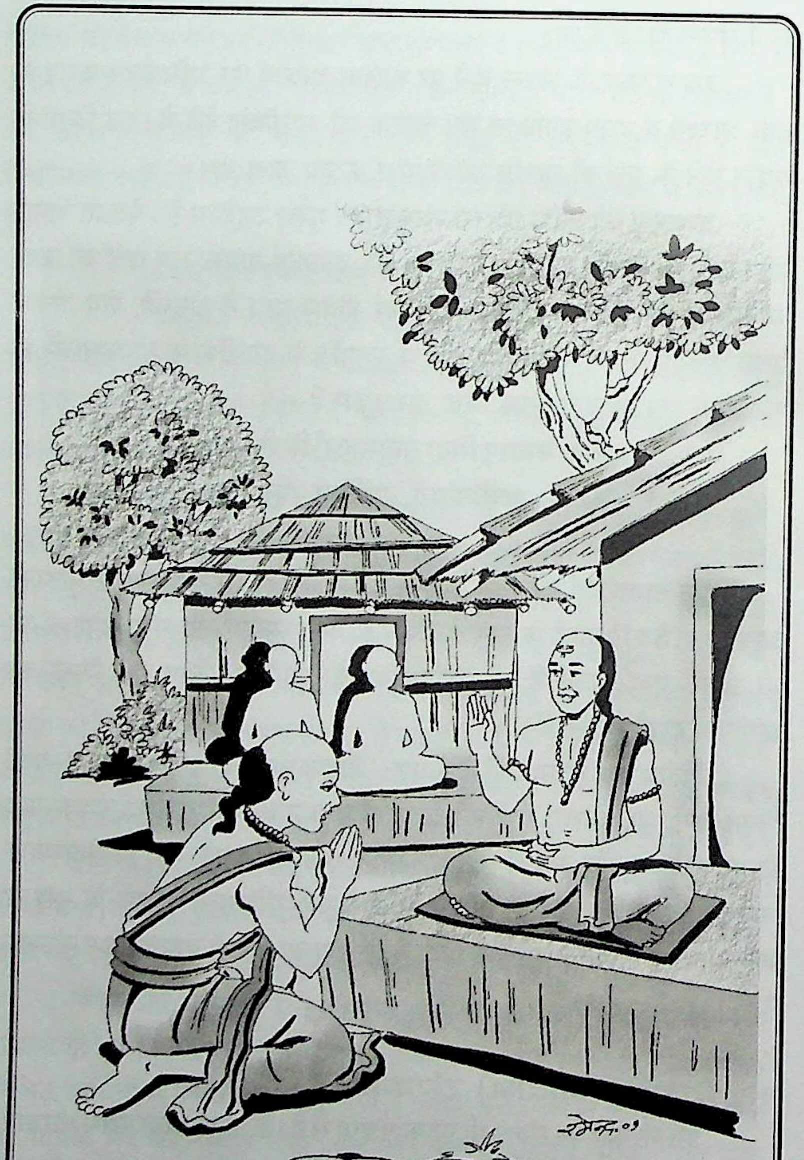

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

यह संस्कार सोलह वर्ष की आयु में संपन्न होता था। यह ब्रह्मचारी के यौवन के पदार्पण का सूचक था। ब्रह्मचारी अब बालक नहीं रह जाता था। उसके मुख पर दाढ़ी-मूँछ निकल आते थे। उसके हृदय में पौरुष की चेतना का उदय हो आता था। उसकी यौवनपूर्ण प्रकृतियों के नियमन के लिए अपेक्षाकृत अधिक सतर्कता की आवश्यकता थी। अत: ब्रह्मचारी को एक बार पुन: ब्रह्मचर्य के व्रतों का स्मरण दिलाना आवश्यक समझा गया। दाढ़ी और मूँछ के क्षौर के पश्चात् ब्रह्मचर्य का व्रत नए सिरे से लेना तथा एक वर्ष-पर्यंत कठोर संयम का जीवन व्यतीत करना होता था

वस्तुत: केशांत संस्कार ब्रह्मचर्य की समाप्ति का सूचक माना जाता था। सूत्र काल में ब्रह्मचर्य की अल्पतम अवधि बारह वर्ष थी। इस गणना के अनुसार विद्यार्थी जीवन अठारह वर्ष की आयु में समाप्त होता था। किंतु यह सर्वप्रचलित प्रथा नहीं थी। केवल वे ही छात्र, जिनकी उनके परिवार के लिए अधिक आवश्यकता होती थी, वे अल्प आयु में ही गुरुकुल छोड़ देते थे। बाद के काल में बाल विवाह प्रचलित हो जाने पर केशांत या गोदान के साथ ही ब्रह्मचर्य की समाप्ति की प्रथा सामान्य रूप से चल पड़ी।

कतिपय आचार्यों के अनुसार—गोदान संस्कार के साथ ही ब्रह्मचर्य की समाप्ति हो जाती है। अल्प आयु में विवाह के समर्थक अपने पक्ष की पुष्टि में यह तर्क देने लगे कि सोलह वर्ष की आयु में ब्रह्मचर्य की समाप्ति अनुचित नहीं है, क्योंकि यदि उपनयन पाँच वर्ष की आयु में किया जाए तो वेदों के स्वाध्याय में बारह वर्ष का समय प्राप्त हो ही जाता है।

यथार्थ में ब्रह्मचर्य की समाप्ति के साथ केशांत या गोदान का कोई भी संबंध नहीं है। 'समावर्तन' ही ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति का सूचक था। अपने पाठ्यक्रम को समाप्त किए बिना ही बालकों को विवाह की अनुमति देने के उद्देश्य से जान-बूझकर दोनों संस्कारों में परस्पर भ्रम डाल दिया गया। साधारण व्यक्ति के लिए यह भ्रम और भी दृढ़ हो गया, क्योंकि क्षौरकर्म दोनों ही संस्कारों में सामान्य तत्त्व था। केशांत संस्कार गुरुकुल में ही होता था।

इस संस्कार में भी सभी संस्कारों की भाँति सर्वप्रथम गणेश आदि देवों का पूजन करके यज्ञ आदि के सभी अंतर्भूत कर्मों का संपादन किया जाता था। इसके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बाद श्मश्रु-वपन (दाढ़ी बनाने) की क्रिया संपन्न की जाती थी। इसीलिए इसे श्मश्रु संस्कार भी कहते हैं। 'संस्कार दीपक' नामक ग्रंथ में वर्णित है—

केशानां अन्तः समीपस्थितः श्मश्रुभाग इति व्युत्पत्या केशान्तशब्देन श्मश्रुणामभिधानात् श्मश्रु-संस्कार एव केशान्त शब्देन प्रतिपाद्यते। अत एवाश्वलायनेनापि। 'श्मश्रुणीहोन्दति' इति श्मश्रुणां-संस्कार एवात्रोपदिष्टः। (संस्कार दीपक, भाग २, पृष्ठ ३४२)

उक्त विवरण में यह स्पष्ट है कि 'केशांत' शब्द से श्मश्रु (दाढ़ी) का अर्थ ही प्रकट होता है। इसलिए मुख्यतः श्मश्रु संस्कार ही केशांत-संस्कार है। इसे गोदान संस्कार भी कहा जाता है, क्योंकि 'गौ' नाम केश (बालों) का भी है। केशों का अंत भाग अर्थात् समीप स्थित श्मश्रु भाग ही कहलाता है। मल्लिनाथ की टीका में लिखा है—

गावो लोमानिकेशा दीयन्ते खड्यन्तेऽस्मिन्नति व्युत्पत्या 'गोदानं' नाम ब्राह्मणादीनां षोड्शादिषु वर्षेषु कर्त्तव्यं केशान्ताख्यकर्मोच्यते।' (रघुनाक्षी ३/३३ पद्य की मल्लिनाथ टीका)

इसका भावार्थ है—गौ अर्थात् लोमकेश, जिसके काट दिए जाते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार—'गोदान' पद यहाँ ब्राह्मण आदि वर्णों के सोलहवें वर्ष में करने योग्य केशांत नामक कर्म का वाचक है। केशांत संस्कार मात्र उत्तरायण में ही करने का विधान है।

जैसा कि कहा जा चुका है, केशांत संस्कार सोलह वर्ष की आयु में संपन्न होता था। इस संस्कार के अवसर पर अनुस्यूत विधि तथा उच्चारित मंत्र वही होते थे, जो चौल संस्कार में होते हैं। अंतर मात्र इतना ही है कि केशांत संस्कार में सिर के स्थान पर दाढ़ी-मूँछों का क्षौर होता था। चूड़ाकरण के समान ही दाढ़ी तथा मूँछ के बाल और नख गोबर के पिंड या आटे के पिंड में डालकर जल में फेंक दिए जाते थे। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी गुरु को गौ का दान करता था। संस्कार के अंत में वह मौनव्रत का पालन तथा एक वर्ष पर्यंत कठोर अनुशासित जीवन व्यतीत करता था।

वर्तमान में यह संस्कार प्रायः नहीं हो रहा है। यह संस्कार उपनयन संस्कार के साथ ही हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

१३. समावर्तन संस्कार

यह संस्कार ब्रह्मचर्य के समाप्त होने पर संपन्न किया जाता था तथा विद्यार्थी जीवन के अंत का सूचक था। 'समावर्तन' शब्द का अर्थ है—वेदाध्ययन के अनंतर गुरुकुल से घर की ओर प्रस्थान।

तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनान्तरं गुरुकुलात् स्वगृहागमनम्।

(वीरमित्रोदय संस्कार, भाग १, पृष्ठ ५६४)

इस संस्कार को स्नान भी कहते हैं, क्योंकि यह इस समावर्तन संस्कार का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग था। कुछ आचार्यों के अनुसार स्नान का प्रयोजन विद्यार्थी से दिव्य शक्ति को दूर करना था। अपने ब्रह्मचर्य की अवधि में वह दिव्य संपर्क में निवास करता था तथा उसके चारों ओर दिव्य ज्योति प्राप्त होती थी। अतः साधारण जीवन में प्रत्यावर्तन के पूर्व उसके पूर्व ब्रह्मचर्य कालीन दिव्य प्रभाव को दूर करना आवश्यक था, अन्यथा वह दिव्य गुण को भ्रष्ट तथा ईश्वरीय रोष को अवसर प्रदान कर सकता था।

प्राचीन भारतीय चिंतक भी ब्रह्मचर्य को एक दीर्घसत्र मानते थे—'**दीर्घसत्रं वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति।**' (पारस्कर गृह्य सूत्र, २/२-५)

अतः जिस प्रकार एक यज्ञ के अंत में यज्ञ करनेवाला यज्ञीय स्नान अथवा अवभृथ-स्नान करता था, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य रूपी दीर्घसत्र के अंत में ब्रह्मचारी का स्नान करना आवश्यक था। समावर्तन संस्कार में 'स्नान' के विषय में एक अन्य विचार का समावेश भी परवर्ती काल में प्रमुख हो गया। वह यह कि संस्कृत साहित्य में अध्ययन की तुलना एक सागर के साथ की जाती थी और जो व्यक्ति विद्याओं का अध्ययन करके प्रकांड पंडित हो जाता था, उसके बारे में यह समझा जाता था कि उसने सागर को पार कर लिया है।

स्वभावतः ब्रह्मचारी अपना अध्ययन समाप्त करने पर एक ऐसा व्यक्ति माना जाता था, जिसने विद्या के सागर को पार कर लिया है। वह विद्या स्नातक (जिसने विद्या में स्नान कर लिया है) तथा व्रत-स्नातक (जिसने अपने व्रतों में स्नान कर लिया है) कहा जाता है (पारस्कर गृह्य सूत्र, २/५/३२/३६)। इस प्रकार विद्यार्थी जीवन के अंत में किया जानेवाला 'सांस्कारिक स्नान' विद्यार्थी द्वारा विद्यासागर को पार करने का प्रतीक था (याज्ञवल्क्य स्मृति, १/४९)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

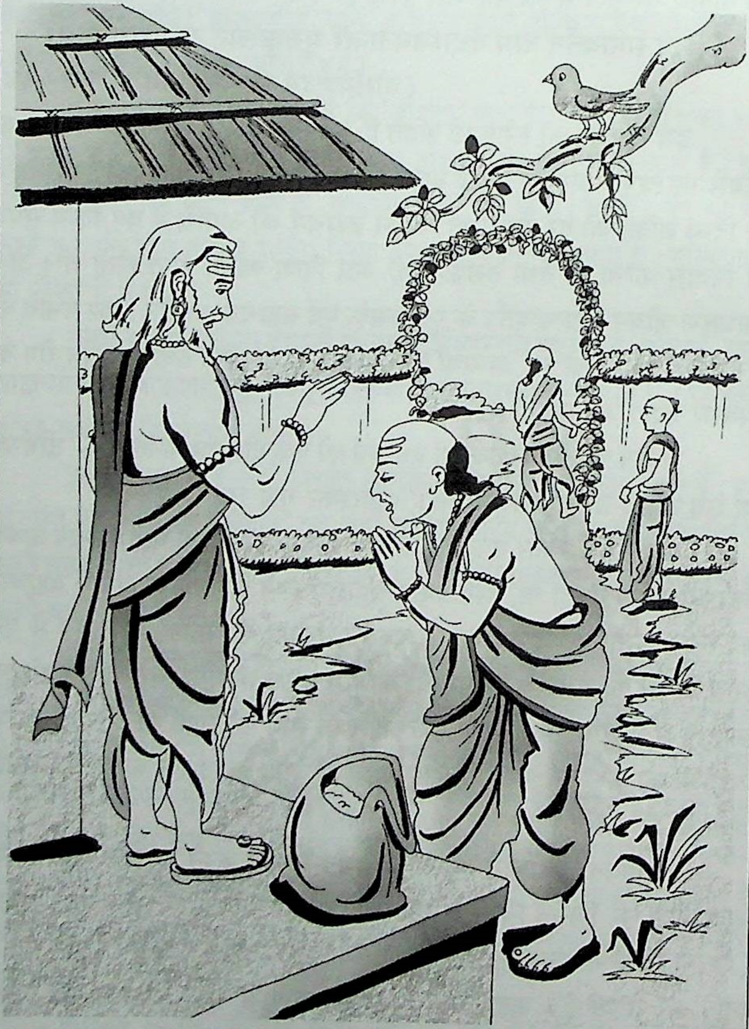

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'विद्यार्थी जीवन की समाप्ति' जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अवसर था। उस समय विद्यार्थी को जीवन के दो मार्गों में से किसी एक का चुनाव करना पड़ता था—एक था प्रवृत्ति मार्ग, जिसमें विवाह करके संपूर्ण उत्तरदायित्वों को स्वीकार करते हुए व्यस्त सांसारिक जीवन में प्रवेश करना था तथा द्वितीय था—निवृत्ति मार्ग, अर्थात् सांसारिक बंधनों से दूर रहकर मानसिक व शारीरिक तपश्चर्या का जीवन व्यतीत करना। जो विद्यार्थी प्रथम मार्ग चुनते थे, 'उपकुर्वाण' कहे जाते थे और दूसरा मार्ग ग्रहण करनेवाले नैष्ठिक कहे जाते थे। 'उपकुर्वाण' गुरुकुलों से लौटकर गृहस्थ बन जाते थे। नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपने गुरुकुल का त्याग न करके उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति के लिए आजन्म गुरु के कुल में ही निवास करते थे।

मूलतः समावर्तन संस्कार उन्हीं का किया जाता था, जो अपने संपूर्ण अध्ययन की समाप्ति तथा व्रतों का पालन कर चुकते थे। अर्थ को न समझनेवाले तथा ब्रह्मचारी के लिए विहित आचार-संबंधी नियमों का पालन न करते हुए केवल मंत्रों को कंठस्थ करनेवालों अथवा वेदपाठियों का समावर्तन का अधिकार नहीं था—**'अन्यो वेदपाठी न तस्य स्नानम्।'** (मानव गृह्य सूत्र, १.२.३)

इस प्रकार आरंभ में समावर्तन संस्कार वर्तमान युग के उपाधि-वितरण समारोह के समान था। कालक्रम से इस नियम में भी शिथिलता आ गई। अधिकांश गृह्य सूत्रों के अनुसार, स्नातकों के तीन प्रकार थे—प्रथम व्रत-स्नातक अथवा वे थे, जो अपना व्रत (ब्रह्मचर्य) तो पूर्ण कर चुकते थे, किंतु विद्या पूर्ण नहीं प्राप्त कर पाते थे। द्वितीय प्रकार में 'विद्या स्नातकों' की गणना थी, जो संपूर्ण विद्या तो प्राप्त करते थे, किंतु जिनका ब्रह्मचर्य अपूर्ण रह जाता था। तीसरे प्रकार में वे सर्वोत्कृष्ट विद्यार्थी आते थे, जो अपना अध्ययन पूर्ण कर लेते थे तथा समस्त व्रतों का पालन करते थे। वे 'उभय-स्नातक' कहलाते थे—

त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति।

(पारस्कर गृह्य सूत्र, २/५/३२)

आगे चलकर जब उपनयन संस्कार के शिक्षा-संबंधी महत्त्व का अंत हो गया तो संस्कार का मूल प्रयोजन भी नष्ट हो गया और यह विवाह संस्कार के लिए एक अनुमति-पत्र समझा जाने लगा। बाल-विवाहों के प्रचलित होने पर देश में इसके लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत हो गया, क्योंकि समावर्तन के पूर्व

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संस्कार नहीं हो सकता था। इसलिए विवाह से पूर्व इस संस्कार को उपनयन संस्कार के साथ ही किया जाने लगा। वर्तमान में तो अधिकांशतः दोनों संस्कार साथ-साथ किए जाते हैं।

उपनयन संस्कार के बाद किस समय समावर्तन संस्कार किया जाना चाहिए, यह एक विचारणीय समस्या थी। ब्रह्मचर्य की दीर्घतम अवधि ४८ वर्ष की थी, जिसमें प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिए बारह वर्ष का समय नियत था। अपेक्षाकृत अल्पतर अवधि विद्यार्थी तथा उसके माता-पिता की परिस्थिति के अनुसार ३६, २४ या १८ वर्ष में समाप्त हो जाती है। द्वितीय अवधि सर्वाधिक सामान्य थी तथा अधिकांश में शिक्षा २४ वर्ष की आयु में समाप्त हो जाती थी। वर्तमान में तो समय का कोई भी बंधन नहीं है। वेद बोधगम्य नहीं रहे, शिक्षा का कोई नियत पाठ्यक्रम नहीं रहा तथा साधारण साक्षरता भी विलास का विषय बन चुकी है। समावर्तन संस्कार महत्त्वहीन तथा उपनयन एवं विवाह संस्कार के साथ ही समाविष्ट हो चुका है।

समावर्तन-स्नान से पूर्व विद्यार्थी को एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कर्तव्य का पालन करना होता था। वह विद्यार्थी जीवन की समाप्ति के लिए गुरु से अनुमति की प्रार्थना तथा दक्षिणा से उसे संतुष्ट करता था—

विद्यान्ते गुरुमर्थेन निमन्त्र्य कृतानुज्ञानस्य वा स्नानमिति।'

(आश्वलायन गृह्य सूत्र, ३/८)

गुरु से अनुज्ञा आवश्यक समझी जाती थी, क्योंकि इससे यह प्रमाणित होता था कि स्नातक गृहस्थ जीवन के लिए विद्याभ्यास तथा चारित्रिक दृष्टि से योग्य है। अब तक विद्यार्थी ने गुरु को कुछ दिया नहीं था, अतः गुरु से विदा लेते समय प्रत्येक दशा में गुरुदक्षिणा के रूप में अपने सामर्थ्य के अनुसार गुरु को कुछ-कुछ देने की आशा की जाती थी। गुरु द्वारा विद्यार्थी के प्रति किया हुआ उपकार अत्यंत उच्च समझा जाता था। यदि कोई विद्यार्थी गुरु को धन या भूमि कुछ भी न दे सके तो भी उसे गुरु के समीप जाकर औपचारिक रूप से उनकी अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी। ऐसे अवसरों पर गुरु प्रायः कहते थे, 'मेरे वत्स! धन की मुझे अपेक्षा नहीं है। मैं तुम्हारे गुणों से ही संतुष्ट हूँ।'

अलमर्थेन मे वत्स! त्वद्गुणैरस्मि तोषितः।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उक्त आरंभिक कृत्यों के पश्चात् कोई शुभ दिन चुन लिया जाता था। विधि-विधान एक अत्यंत विलक्षण कृत्य के साथ आरंभ होते थे। ब्रह्मचारी को स्वयं को प्रात:काल एक कक्ष में बंद रखना पड़ता था। ऐसा इसलिए किया जाता था कि स्नातक के उच्चतर तेज से सूर्य अपमानित न हो, क्योंकि वह स्नातक के तेज से ही प्रकाशित होता है—

एतदहः स्नातानां ह वा एष एतत्तेजसा तपति तस्मादेनमेतदहर्नाभितपेत्

(पारस्कर गृह्य सूत्र, २/१/८)

मध्याह्न में ब्रह्मचारी कमरे के बाहर आकर गुरु के चरणों में प्रणाम करता था तथा कुछ समिधाओं द्वारा वैदिक अग्नि को अंतिम आहुति प्रदान करता था।

समावर्तन संस्कार में वेद मंत्रों से अभिमंत्रित सुगंध आदि, औषधि-युक्त जल से भरे आठ कलशों से वेदी के उत्तर भाग में स्थित स्थान पर विधिपूर्वक ब्रह्मचारी को स्नान कराया जाता था। इसीलिए यह संस्कार वेदस्नान संस्कार भी कहलाता है। इस संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी मेखला व दंड का त्याग करके दही व तिलप्राशन करके जटा, लोम एवं नख का वपन कराता था।

तत्पश्चात् दंतधावन, सुंदर वस्त्र, उपवस्त्र, सुगंधित माला, शिरोवेष्टन अर्थात् पगड़ी, टोपी, दुपट्टा, अलंकार, काजल या अंजन, दर्पण, छाता व उपानह (खड़ाऊँ आदि) पहनता था या उसे पहनाया जाता था। उसे एक सुंदर छड़ी भी दी जाती थी। इन सबके बाद ईश्वर से मंगलमय कामना करते हुए उसे गुरुकुल से विदा किया जाता था।

यह संस्कार उसका दीक्षांत संस्कार था। इसके बाद वह ब्रह्मचारी अपने जीवन आदर्शों का पालन करते हुए विवाह करने—अर्थात् गृहस्थ आश्रम में प्रवेश अधिकारी का हो जाता था।

समावर्तन संस्कार की वास्तविक विधि के संबंध में 'आश्वलायन स्मृति' के १४वें अध्याय में पाँच प्रामाणिक श्लोक वर्णित हैं, जिसके अनुसार केशांत संस्कार के बाद विधिपूर्वक स्नान करके वह ब्रह्मचारी 'वेद विद्याव्रत स्नातक' कहलाता था। उसे अग्निस्थापन, परिसमूहन तथा पर्युक्षण आदि अग्नि-संस्कार करके ऋग्वेद के दसवें मंडल के १२८ वें सूक्त की सभी ९ ऋचाओं से समिधा का हवन करना होता था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसके बाद गुरुदक्षिणा देकर, गुरु के चरणों का स्मरण करके, उनकी आज्ञा लेकर स्विष्टकृत् होम करने के बाद निम्नलिखित मंत्रों द्वारा वरुणदेव से मौंजी मेखला आदि के त्याग की कामना करते हुए प्रार्थना करता था—

उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत।
अवाधमानि जीवसे।।

(ऋग्वेद, १/२५/२१)

इसका भाव है—'हे वरुणदेव! आप हमारे कटि (कमर) एवं ऊर्ध्व भाग के मौंजी, उपवीत एवं मेखला को हटाकर सूत्र की मेखला तथा उपवीत पहनने की आज्ञा दें और निर्विघ्न जीवन का विधान करें।'

समावर्तन संस्कार के बाद घर जाते समय गुरु या आचार्य स्नातक को लोक-परलोक हितकारी एवं जीवनोपयोगी शिक्षा देते थे—'सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय (अध्ययन) में प्रमाद (आलस्य) न करना, आचार्य के लिए धन लाकर देना, संतान-परंपरा का उच्छेद न करना, सत्य आचरण में प्रमाद न करना, ऐश्वर्य देनेवाले कर्मों में प्रमाद न करना, देवकार्यों और पितृकार्यों में प्रमाद न करना, माता-पिता व अतिथि को देवता मानना; जो प्रशंनीय कर्म हैं उनकी ओर ही प्रवृत्त होना, अन्य कर्मों की ओर नहीं।

जो तुम्हारी तुलना में श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनका आसन आदि से सत्कार करना, श्रद्धापूर्वक दान देना अश्रद्धा से नहीं, अपने ऐश्वर्य के अनुसार देना, लज्जापूर्वक देना, भय मानते हुए देना, मित्रतापूर्वक देना। यदि तुम्हें कर्म के आचरण के विषय में संदेह हो तो वहाँ जो विचारशील पुरुष तथा कर्म में स्वेच्छा से लगे हुए धर्ममति ब्राह्मण हों एवं उस विषय में वे जैसा व्यवहार करते हों, वैसा तुम्हें भी करना चाहिए।

इसी प्रकार जिन पर संशय-युक्त दोषारोपण किया गया हो, उनके विषय में भी वहाँ जो विचारशील, स्वेच्छा से कर्मपरायण, सरल हृदय धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों और वे जैसा व्यवहार करें वैसा तुम्हें भी करना चाहिए—यह आदेश है, यह उपदेश है, यह वेद का रहस्य है और ईश्वर की आज्ञा है। इसी प्रकार तुम्हें उपासना करनी चाहिए, ऐसा ही आचरण करना चाहिए।'

इस उपदेश-प्राप्ति के बाद स्नातक पुनः गुरु को प्रणाम करके मौंजी-

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मेखला आदि का परित्याग करता था तथा गुरु से विवाह की आज्ञा (गृहस्थाश्रम में प्रवेश हेतु) लेकर अपने माता-पिता के पास आता था। माता-पिता, अभिभावक आदि उस वेद विद्याव्रत स्नातक के घर आने पर मांगलिक वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके मधुपर्क आदि से उसका स्वागत सत्कारपूर्वक अर्चन करते थे।

१४. विवाह संस्कार

हिंदू संस्कारों में विवाह का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अधिकांश गृह्य सूत्रों का आरंभ विवाह संस्कार से होता है, क्योंकि यह समस्त गृह्य सूत्रों व संस्कारों का उद्‌गम या केंद्र है। घर का मधुर वातावरण, पत्नी के साथ विवाहित प्रेममय जीवन तथा इसके फलस्वरूप होनेवाली संतान का पालन-पोषण वैदिक आर्यों को अत्यंत प्रिय थे। अतः अति प्राचीनकाल में ही विवाह को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था।

विवाह एक अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य तथा यज्ञ माना जाता था। जो व्यक्ति गार्हस्थ जीवन में प्रवेश नहीं करता था, उसे अयज्ञीय या यज्ञहीन कहा जाता था—**'अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीक।'** (तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/२/२/७)। आगे यह भी कहा गया है कि एकाकी पुरुष अधूरा है, उसकी पत्नी उसका अर्धभाग है—**अथो अर्द्धो वा एषः आत्मनः यत् पत्नी।** (वही, २/९/४/७)। आगे चलकर जब तीन ऋणों के सिद्धांत का विकास हुआ तो विवाह को अधिकाधिक महत्त्व और पवित्रता प्राप्त होने लगी। क्योंकि संतानोत्पत्ति करके पितृऋण से मुक्त होना विवाह के बिना असंभव था—

'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्तिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।' (तैत्तिरीय संहिता, ६/३/१०/५)

उपनिषदों के युग में आश्रमों का सिद्धांत पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुका था। इसके पोषकों का मत था कि प्रत्येक व्यक्ति को क्रमशः सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम, उसके पश्चात् गृहस्थाश्रम, तत्पश्चात् वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में जाना चाहिए। व्यक्तित्व के विकास के लिए गृहस्थाश्रम अनिवार्य माना जाता था। स्मृतियों में गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठतम कहा गया है और इसे संपूर्ण सामाजिक संगठन का केंद्र तथा मूल माना गया है। उनके अनुसार—'जिस प्रकार संपूर्ण जंतु अपने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शेष जीवन के लिए वायु पर आश्रित हैं, उसी प्रकार संपूर्ण आश्रम गृहस्थाश्रम पर आधारित हैं, क्योंकि गृहस्थ ज्ञान तथा अन्न से अन्य तीनों आश्रमों की सहायता करता है। दुर्बलेंद्रिय व्यक्ति गृहस्थाश्रम को धारण नहीं कर सकता—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेन चान्वहन्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठा श्रयो गृही।
स सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः॥

(मनुस्मृति ३/७७-७९)

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि जो व्यक्ति विवाह नहीं करता था, वह समाज में हीन समझा जाता था। विवाह द्वारा वंश-परंपरा अक्षुण्ण हो जाती, संपत्ति के उत्तराधिकारी की समस्या का समाधान हो जाता और पितरों की पूजा भी अविच्छिन्न रूप से चलती रहती थी। अतः अविवाहित रहना गृह-देवताओं के विरुद्ध एक गंभीर पाप व अपराध समझा जाता था।

'विवाह' शब्द का तात्पर्य स्त्री और पुरुष के उस संबंध से है, जो मैथुन के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता, अपितु उसके पश्चात् भी जब तक उत्पन्न शिशु स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य नहीं हो जाता, विद्यमान रहता है। विवाह के मूल में संभवतः नवजात शिशु की पूर्ण असहाय अवस्था तथा विभिन्न अवधियों के लिए माता व नवजात शिशु की रक्षा और उनके लिए उस अवधि में भोजन की आवश्यकता थी। इस प्रकार विवाह का मूल 'परिवार' प्रतीत होता है, 'विवाह' में परिवार नहीं। स्त्री और पुरुष के स्थायी संबंध की जड़ ही पैतृक कर्तव्यों में निहित है।

वैवाहिक विधि-विधानों के कुछ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रकरण वे हैं, जो इस बात के प्रतीक हैं कि विवाह पति-पत्नी के बीच एक नवीन संबंध को जन्म देता है। वे उन छोटे-छोटे पौधों के समान संबद्ध होते हैं, जो भिन्न-भिन्न स्थानों से उखाड़ कर किसी एक स्थान पर लगा दिए गए हों। उन्हें अपने सामान्य स्थायी तथा आदर्श की दिशा में अपनी संपूर्ण शक्ति का समर्पण करके इस संबंध का

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भली प्रकार निर्वाह करना है। इस संदर्भ में एक विधि समंजन की है।

इस क्रिया में वधू का पिता दंपत्ति का समंजन करता है। जब यह विधि संपन्न होती है तो वर इस मंत्र का उच्चारण करता है—

समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।
सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥

(पारस्कर गृह्य सूत्र, १/४/१५)

अर्थात् 'समस्त देव (विश्वेदेवाः), ये जल (आपः) हम दोनों (वर-वधू) के हृदय को संयुक्त करें। मातरिश्वा, धाता तथा देष्टा हमें संबद्ध करें।'

समंजन स्नेह के फलस्वरूप नवदंपत्ति के संबंध का प्रतीक है। इस प्रकार की एक अन्य विधि पाणिग्रहण की है। 'वर' वधू का दाहिना हाथ इस मंत्र को पढ़ते हुए पकड़ता है—'मैं तेरा हाथ सौभाग्य के लिए ग्रहण करता हूँ। तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था-पर्यंत जीवित रह। भग, अर्यमा, सविता इन देवताओं ने गार्हपत्य के लिए तुझे मेरे हाथों में सौंपा है। यह मैं हूँ, वह तू है। तू वह है, मैं यह हूँ। मैं साम हूँ, तू ऋक् है। मैं द्यौ हूँ, तू पृथ्वी है। आओ, हम दोनों विवाह करें।' यह क्रिया पति-पत्नी के बीच शारीरिक संबंध की प्रतीक है।

इसी प्रकार अगली क्रिया है—हृदय-स्पर्श। वधू के दाहिने कंधे की ओर जाकर वह उसके हृदय का स्पर्श इन शब्दों के साथ करता है—'मैं अपने व्रत में तेरा हृदय धारण करता हूँ, तेरा चित्त मेरे चित्त का अनुगामी है। तू मेरी वाणी में एकाग्रचित्त होकर निवास कर। प्रजापति तुझे मुझसे संयुक्त करें—

मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।

(पारस्कर गृह्य सूत्र, १/८/८)

यह विधि सूचित करती है कि 'विवाह' मात्र दो व्यक्तियों का शारीरिक संबंध नहीं है, वह तो दो हृदयों या दो आत्माओं का संबंध है। हृदय भावनाओं का केंद्र है। इसके स्पर्श द्वारा वर वधू के हृदय की कोमल भावनाओं को उद्बुद्ध और अपनी भावनाओं से अभिन्न कर देने के लिए प्रवाहित करना और इस प्रकार मनोमय जगत् में एक यथार्थ संबंध स्थापित करना चाहता है।

इस संबंध में एक अन्य क्रिया का भी उल्लेख किया जा सकता है। स्थालीपाक अथवा सहभोजन में 'वर' वधू को कुछ पक्वान्न इन शब्दों के साथ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

खिलाता है—**प्राणैस्ते प्राणान् सन्दधामि आदि** (पारस्कर गृह्य सूत्र, १/११/५) अर्थात् 'मैं अपने प्राणों से तेरे प्राणों को धारण करता हूँ, अपनी अस्थियों से तेरी अस्थियों को, मांस को और त्वचा को धारण करता हूँ।' इस प्रकार यहाँ पति और पत्नी के भौतिक व आध्यात्मिक दोनों तत्त्वों को संयुक्त करने का संकेत है।

इस प्रकार विवाह क्षणिक शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति करने या कुछ काल तक परस्पर सहवास का लाभ उठाने के लिए किया जानेवाला एक अस्थायी संबंध नहीं है। यह एक ऐसा संबंध है, जो जीवन के विभिन्न परिवर्तनों तथा संकटों की भट्ठी में पककर और भी दृढ़तर व स्थायी हो जाता है। यह तथ्य प्रतीक रूप से हिंदू विवाह की अनेक क्रियाओं में प्रतिबिंबित हुआ है। अश्मारोहण की क्रिया में 'वर' वधू को एक प्रस्तरखंड पर आरूढ़ करते समय कहता है—

आरोहेममश्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव।

(शांख्यायन गृह्य सूत्र, १/८/१९)

अर्थात् 'इस प्रस्तर (अश्मा) पर तू आरूढ़ हो और इसी के समान स्थिर हो।' पत्थर स्थिरता व शक्ति का प्रतीक है। यहाँ पत्नी को अपने पातिव्रत्य में स्थिर होने के लिए कहा जाता है। इसी प्रकार की एक अन्य विधि है—ध्रुव-दर्शन की। विवाह की रात्रि में 'वर' वधू को निम्नलिखित मंत्र के साथ ध्रुव नक्षत्र दिखलाता है और कहता है—

ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि।

(पारस्कर गृह्य सूत्र, १/८/१९)

अर्थात् 'हे चपले! तू मेरे साथ ध्रुव हो। बृहस्पति ने मुझ पति द्वारा संतति प्राप्त करने के लिए तुझे मेरे हाथों में सौंपा है। मेरे सौ शरद् ऋतु-पर्यंत जीवित रह।' यहाँ दो बातें सूचित होती हैं—प्रथम यह कि पत्नी को आकाश में असंख्य गतिशील नक्षत्रों के मध्य ध्रुव नक्षत्र के समान असंख्य विपदाओं में भी स्थिर रहना चाहिए। दूसरे यह कि संबंध सौ वर्ष पर्यंत विद्यमान रहना चाहिए। इस प्रकार स्थिर व आजीवन संबंध की कामना है।

इस प्रकार विवाह संस्कार का भारतीय संस्कृति में अत्यधिक महत्त्व है। जिस दार्शनिक विज्ञान और सत्य पर वर्णाश्रमी हिंदुओं में स्त्री-पुरुषों का विवाह संस्कार प्रतिष्ठित है, उसकी कल्पना दुर्विज्ञय है। कन्या और वर दोनों को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

स्वेच्छाचारी होकर विवाह करने की आज्ञा शास्त्रों ने नहीं दी है। इसके लिए कुछ नियम और विधान बने हैं, जिससे स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण होता है।

विवाह संस्कार के बाद ही व्यक्ति लोक में प्रतिष्ठा, संतान उत्पन्न करने और धर्मार्जन करने का अधिकारी बनता है। विवाह के बिना जीवन में व्यक्ति को कोई स्थान नहीं मिलता। जिन दो शरीरों का विवाह संस्कार होता है, वे शरीर से भिन्न रहते हुए भी आत्मा से एक हो जाते हैं। इस संस्कार द्वारा स्त्री-पुरुष दोनों में देह, प्राण और मन का संबंध स्थापित हो जाता है। जल और अग्नि के मेल से जो अथाह शक्ति उत्पन्न होती है, वैवाहिक संबंध में आबद्ध स्त्री-पुरुष में उसी शक्ति का संचार होता है।

विवाह संस्कार के समय पति-पत्नी द्वारा की गई प्रतिज्ञाओं से यह प्रकट होता है कि लोक-परलोक में उनका संबंध बना रहता है। गृह्य सूत्रों, श्रुतियों व स्मृतियों में विवाह संस्कार के विधान का विस्तार से वर्णन है। यहाँ उन सबका वर्णन अपेक्षित नहीं है।

१५. विवाहाग्नि-परिग्रह संस्कार

विवाह संस्कार में लाजा-होम आदि क्रियाएँ जिस अग्नि में संपन्न की जाती हैं, वह 'आवसथ्य' नामक अग्नि कहलाती है। इसी को विवाहाग्नि भी कहा गया है। इस अग्नि का आहरण तथा इसका परिसम्मूहन आदि क्रियाएँ इस संस्कार में संपन्न होती हैं।

शास्त्रों में निर्देश है कि बहुत से पशुवाले वैश्य के घर से अग्नि लाकर विवाह-स्थल की उपलिप्त (लीपी हुई) पवित्र भूमि में परिसम्मूहन (एक विशेष क्रिया) तथा पर्युक्षणपूर्वक (यह भी एक यज्ञीय क्रिया है) उस अग्नि की मंत्रों से स्थापना करनी चाहिए और उसी स्थापित अग्नि में विवाह संबंधी लाजा-होम तथा औपसन होम करना चाहिए। इसके बाद अग्नि की प्रदक्षिणा करके स्विष्टकृत होम तथा पूर्णाहुति करने का विधान है। ये समस्त क्रियाएँ आचार्य का विषय हैं, जिन्हें वह कराता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि अग्नि कहीं बाहर से न लाकर अरणि मंथन द्वारा घर में ही उत्पन्न करना चाहिए।

विवाह के बाद वर-वधू अपने घर में आने लगते हैं, तब उस स्थापित

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अग्नि को घर में लाकर किसी पवित्र स्थान में स्थापित करके उसमें प्रतिदिन अपनी कुल परंपरा के अनुसार सायं-प्रातः हवन करना चाहिए। यह नित्य हवन-विधि द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के लिए आवश्यक बताई गई है और नित्य कर्मों में परिगणित (गिनी गई) है। सभी वैश्वदेवादि स्मार्त कर्म तथा पाकयज्ञ इसी अग्नि में किए जाते हैं। इस विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है—

कर्म स्मार्तं विवाहाग्नौ कुर्वीत प्रत्यहं गृही।

(याज्ञवल्क्य-स्मृति, आचाराध्याय, ५/९७)

इस 'आवसथ्य' नामक अग्नि को 'आनाप्याग्नि, गृह्याग्नि, आवसथ्याग्नि तथा विवाहाग्नि भी कहा जाता है। गृह्य सूत्रों में कथित सभी कार्य इसी स्थापित अग्नि में किए जाते हैं। सनातन संस्कृति में इस संस्कार का अत्यंत महत्त्व है, किंतु यह संस्कार अब प्रायः लोप होता जा रहा है।

१६. त्रेताग्नि-संग्रह संस्कार

स्मार्तं वैवाहिके वह्नौ श्रौतं वैतानिकाग्निषु। (व्यास स्मृति, २/१७)

स्मार्त या पाकयज्ञ संस्था के सभी कर्म वैवाहिक अग्नि में तथा हविर्यज्ञ एवं सोमयज्ञ संस्था के सभी श्रौत कर्म, अनुष्ठान आदि वैतानाग्नि (श्रोताग्नि-त्रेताग्नि) में संपादित होते (किए जाते) हैं।

विवाह के समय घर में लाई गई आवसथ्य अग्नि में स्मार्त कर्म आदि अनुष्ठान किए जाते हैं। उसी स्थापित अग्नि से अतिरिक्त अन्य तीन अग्नियों (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य तथा आहवनीय) की स्थापना तथा उनकी रक्षा आदि का विधान भी शास्त्रों में निर्देशित है। ये तीन अग्नियाँ त्रेताग्नि कहलाती हैं, जिनमें श्रौतकर्म संपादित होते हैं।

जिस प्रकार वेदाध्ययन आवश्यक बताया गया है और वेद के अध्ययन का प्रयोजन यज्ञ कर्मों में पर्यवसित (समाया हुआ) है, जिससे पुण्य और सद्गति प्राप्त होती है, उसी प्रकार इस त्रेताग्नि क्रिया को आवश्यक तथा महत्त्व का संस्कार बताया गया है। इसी दृष्टि से इसे संस्कार भी माना जाता है। शास्त्रों में यह निर्देश है कि गृहस्थ एक स्वतंत्र यज्ञशाला स्थापित करे, जिसे त्रेताग्निशाला भी कहा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गया है, पूर्वोक्त तीनों अग्नियों की विधिवत् स्थापना करे और उसमें हवन आदि कार्य करे।

वर्तमान में आधुनिक जीवन की शैली, आपाधापी, भाग-दौड़ आदि के कारण यह संस्कार बिलकुल ही लुप्त हो गया है।

□

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

6

उपसंहार

पिछले पाँच अध्यायों में 'संस्कार' शब्द का अर्थ एवं उसकी परिभाषा की व्याख्या करते हुए यह बतलाया गया है कि संस्कारों का विकास आदिम काल से वर्तमान काल तक किन रूपों में किस-किस प्रकार होता रहा है ? साथ ही इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि इन संस्कारों के आयोजन का उद्देश्य क्या रहा ? साथ ही संस्कारों के कितने भेद या प्रकार थे ? उनमें से कितने संस्कार वर्तमान में किस रूप में मान्य हैं और कितने संस्कारों को अब क्रियान्वित नहीं किया जा रहा। इनके कारण क्या हैं ?

वास्तव में भारतीय दर्शन के अनुसार ये संस्कार आगत जीव के भूतकाल के संस्कारों को वर्तमान काल में सुधारने के प्रयास हैं। भारतीय धर्म-दर्शन में कर्मफल का सिद्धांत, पुनर्जन्म का सिद्धांत और अनेक योनियों का सिद्धांत बहुत ही वैज्ञानिक और मौलिक उद्भावना है। 'जीव' पूर्वजन्म के कर्मों के फलस्वरूप चौरासी लाख योनियों में से किसी भी योनि वृक्ष, वनस्पति, पशु, मानव आदि में जन्म ग्रहण करता है, अपने कर्मों का फल भोगता है और अंत में परमगति को प्राप्त करता है। अन्य योनियाँ भोगयोनि हैं, किंतु मानव योनि कर्मयोनि है, अर्थात् जीव अच्छे कर्म करके इसी योनि में मुक्त हो सकता है और बुरे कर्म करने पर चौरासी लाख योनियों में ही भटका रह सकता है। मानव योनि उसके सुधार का एक अवसर है, जिसमें अपने सत्कर्मों से जीव सुधार कर आगामी योनि में अच्छा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

फल पा सकता है या इसी योनि में मुक्त हो सकता है।

जीव जब मानव योनि के गर्भ में आता है, तो उसके साथ पिछले जन्म (योनि) के कर्म में संस्कार भी जुड़े होते हैं। इन्हीं के आधार पर उसे जन्म मिलता है। पिता के वीर्य, माता के रज में भी जीव के कुछ संस्कार निहित होते हैं। इसके वातावरण, परिस्थिति और स्थान का भी प्रभाव होता है। इन सभी के मिलने पर गर्भ में जीव का आगमन होता है। इसीलिए भारतीय तत्त्वदर्शियों ने गर्भाधान के पूर्व से ही अनेक संस्कारों को समय-समय पर करने का निर्देश दिया, जिससे जीव के अवांछित संस्कार नष्ट होकर उसमें नए एवं अच्छे संस्कारों को समाहित किया जा सके। इसीलिए समय-समय पर अनेक संस्कार करने की व्यवस्था की गई।

भारतीय जीवन दर्शन में संपूर्ण सृष्टि को 'यज्ञ' का परिणाम माना गया है। इसीलिए मानव जीवन को भी यज्ञमय मानकर उसके जीवन के विभिन्न अवसरों पर मंत्रों के यज्ञमय अनुष्ठान करने का निर्देश दिया गया। हिंदू धर्म में कोई भी धार्मिक या सांस्कारिक अनुष्ठान हो, उसमें हवन अनिवार्य है, यही कारण है कि मनुष्य की मृत्यु होने पर उसके मृत शरीर को हवन सामग्री के रूप में नहला-धुलाकर, अच्छे कपड़े पहनाकर, हवन-धूप, गूगुल आदि के साथ चितारूपी यज्ञ वेदी (हवन कुंड) में होम करने का विधान है। यह मानव जीवन का अंतिम यज्ञ है। किंतु बात यहीं खत्म नहीं होती। अंत्येष्टि के पश्चात् जीवात्मा की शांति के लिए, उसके प्रेत शरीर के निर्माण के लिए, उसकी मुक्ति के लिए, उसके अन्य लोकों में शांति के लिए, उसकी क्षुधा पूर्ति के लिए और्ध्वदेहिक प्रेत क्रिया तथा शुद्धिक्रिया का विधान दिया गया है। ऐसी चिंतनपरक वैज्ञानिक पद्धति अन्य धर्मों में नहीं है।

वर्तमान में कुछ आधुनिक बुद्धिजीवी इन संस्कारों को अवैज्ञानिक और अनावश्यक मानकर खिल्ली उड़ाते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि मरणासन्न होने पर वे स्वयं अपनी सद्गति की कामना करते हैं, पंडितों की शरण में जाते हैं और अपनी अंत्येष्टि के लिए चिंतित रहते हैं। वर्तमान में बचे-खुचे सोलह संस्कारों में से अधिकांश का देश-काल-परिस्थिति के अनुसार या तो लोप हो गया है या उन्हें अन्य संस्कारों के साथ ही समाहित कर लिया गया हैं या उन्हें

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अन्य संस्कार का नाम-रूप दे दिया गया है। यही कारण है कि बहुत से लोगों को अपने संस्कारों का नाम तक ज्ञात नहीं है। आज का द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) अपने 'द्विज' नाम को ही निरर्थक कर रहा है। ब्राह्मणों में जहाँ पाँच-छह वर्ष की आयु तक उपनयन संस्कार अनिवार्य था, अब बीते दिनों की बात हो गई है। क्षत्रियों में विवाह के समय यज्ञोपवीत पहना दिया जाता है। बाद में वे इसे पहनते ही नहीं। वैश्यों को तो इस संस्कार का ज्ञान ही नहीं। किंचित् परिवारों को छोड़ दें तो वैश्यों में अब उपनयन संस्कार होता ही नहीं है।

ऐसे में हिंदू-संस्कृति और उसके संस्कार कितने दिन तक और किस रूप में सुरक्षित रहेंगे, कहना कठिन है। इस छोटी सी पुस्तक में हिंदू धर्म के सोलह संस्कारों के साथ परिशिष्ट में धर्मशुद्धि संस्कार और अंत्येष्टि संस्कार के बारे में भी संक्षिप्त किंतु जानकारीपूर्ण चर्चा की गई है, जिससे पाठकों को उनके संस्कारों के बारे में एक सामान्य जानकारी मिल सकेगी। आशा है, यह पुस्तक आपके ज्ञान की वृद्धि में सहायक होगी।

□

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परिशिष्ट-१

धर्मशुद्धि संस्कार

संस्कारों की गणना में धर्मशुद्धि संस्कार का उल्लेख पहले किया जा चुका है। ये संस्कार एक प्रकार से जन-सामान्य के अनिवार्य कर्तव्य हैं। शरीर के साथ इनका नित्य का संबंध है। शरीर के ये धर्म भी हैं और शरीर या देह-शुद्धि के कारण भी हैं। ये संख्या में पाँच हैं, जिनके नाम हैं—

(१) शरीर शुद्धि, (२) द्रव्य शुद्धि, (३) अघः शुद्धि, (४) एनः शुद्धि तथा (५) भाव शुद्धि।

उपर्युक्त संस्कारों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

(१) शरीर शुद्धि—इस पाँच भौतिक शरीर में विद्यमान मल-मूत्र आदि मलों से जब तक आत्मा का संबंध बना रहता है, तब तक वे पवित्र बने रहते हैं और शक्ति-संचय का कार्य करते हैं; किंतु शरीर से पृथक् हो जाने पर वे आत्मा के संबंध से पृथक् हो जाते हैं और उस अवस्था में वे शरीर को अपवित्र कर देते हैं। तब वे गुण के स्थान पर दोषकारक हो जाते हैं। इसलिए प्रतिदिन नियमतः उनका त्याग होना चाहिए।

मल-मूत्र का त्याग, दंत-धावन (मंजन-ब्रश), केश-कर्तन, नख-कर्तन और स्नान आदि संस्कारों द्वारा इन मलों को शुद्ध किया जाता है। इसी को शरीर शुद्धि संस्कार कहते हैं।

(२) द्रव्य शुद्धि—मनुष्य-शरीर विभिन्न द्रव्यों के सेवन तथा आहार आदि पर आश्रित या अवलंबित है। ये द्रव्य हैं—वस्त्र, भोजन, जल आदि। इन द्रव्यों को उपयोग में लाने के पूर्व विभिन्न क्रियाओं द्वारा शुद्ध करना आवश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बिना शुद्ध किए यदि उनका उपयोग किया जाएगा तो वे शरीर को अपवित्र तथा रुग्ण कर देते हैं। इन्हीं सतत उपयोगी एवं शरीर-पोषक तथा संरक्षक द्रव्यों की शुद्धि ही द्रव्य शुद्धि संस्कार है।

(३) अघः शुद्धि—जन्म-मरण संबंधी जो अशौच है, उसी को 'अघ' कहा गया है। यह अघ 'काल-व्याप्य' होता है, अर्थात् एक निश्चित समय तक बना रहता है और उसके बाद समाप्त हो जाता है। इसका संबंध आत्मा और शरीर दोनों से होता है। अपनी विद्यमान अवस्था में वह आत्मा तथा शरीर और उनसे संबद्ध वस्तुओं को अपवित्र कर देता है।

स्मृतियों में जन्म-मरण संबंधी अशुचितावस्था में संध्या, तर्पण, होम, विवाह, पूजन आदि कार्यों को करने का निषेध इसीलिए है। इनकी शुचिता (पवित्रता) के लिए स्मृतियों और कल्पसूत्रों में भिन्न-भिन्न विधियों का निरूपण किया गया है।

(४) एनः शुद्धि—'अघ' की भाँति 'एन' भी एक दोष है, किंतु अघ की अपेक्षा कुछ भिन्न है। अघ प्रकृत दोष है, जिसका संबंध परोक्ष (प्रत्यक्ष) रूप से बना रहता है; किंतु 'एन' वह दोष है, जो मनुष्य की अज्ञानता के कारण उत्पन्न होता है। 'अघ दोष' अपवित्रता एवं अशुचिता का द्योतक है, किंतु एन दोष पाप, कुकृत्य तथा प्रायश्चित्त आदि का कारण होता है। यह दोष मनुष्य का पतन कर देनेवाला और समाज में उसकी प्रतिष्ठा को गिरा देनेवाला होता है। इसके परिहार के लिए ही स्मृतियों 'पंच महायज्ञ' का विधान बताया गया है।

(५) भाव शुद्धि—इसका संबंध आत्मगुणों से है। धृति, क्षमा, दया, शौच, इंद्रियनिग्रह, अहिंसा, सत्य और अक्रोध आदि को 'आत्मगुण' कहा गया है। ये सभी भावात्मक या भावजनित होते हैं। इनकी पवित्रता हमेशा बनाए रखना ही भाव शुद्धि है। इनकी पवित्रता का विधान भी स्मृतियों में वर्णित है।

संस्कारों के संबंध में मनु ने कहा है कि उपनयन को छोड़कर स्त्रियों के सभी संस्कार क्रमशः यथासमय करने चाहिए। विवाह संस्कार ही स्त्रियों का उपनयन संस्कार है। पति-सेवा ही उनका गुरुकुल वास है। घर का कामकाज ही उनके लिए हवन-कर्म है।

□

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परिशिष्ट-२

अंत्येष्टि संस्कार

जीवन का अंतिम संस्कार अंत्येष्टि संस्कार है, जिसके साथ व्यक्ति अपने जीवन का अंतिम अध्याय समाप्त करता है। यह संस्कार विश्व के प्राय: सभी धर्म-संप्रदायों में भिन्न-भिन्न विधियों के रूप में प्रचलित है। अपने जीवन काल में व्यक्ति अपनी प्रगति के विभिन्न स्तरों पर विविध क्रियाओं तथा विधि-विधानों द्वारा जीवन को सुसंस्कृत करता है। इस संसार से उसके प्रस्थान करने पर उसके जीवित संबंधी परलोक में उसके भावी सुख या कल्याण के लिए उसका अंतिम संस्कार करते हैं।

हिंदू संस्कृति में पुनर्जन्म की दृढ़ मान्यता है—अर्थात् व्यक्ति वर्तमान जीवन में अच्छे-बुरे जो भी कर्म करेगा, उन्हीं कर्मों के फल के अनुसार उसे चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए मोक्ष की प्राप्ति या ब्रह्म से सायुज्य-प्राप्ति होगी। पशु-पक्षी, कीट आदि योनियाँ भोग योनि मानी गई हैं, जबकि मनुष्य योनि को कर्म योनि कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने जीवन में अच्छे कर्म करके देव योनि या उससे भी ऊँची योनि प्राप्त कर सकता है। यह भी हो सकता है, इसी जन्म के बाद उसे अन्य चौरासी लाख योनियों में भटकना न पड़े।

इसीलिए मृत्यु के पश्चात् भी व्यक्ति का अंत्येष्टि संस्कार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है; क्योंकि हिंदुओं के लिए इस लोक की अपेक्षा परलोक का मूल्य उच्चतर है। 'बौधायन पितृमेध सूत्र' में कहा गया है कि 'यह सुप्रसिद्ध है कि जन्मोत्तर संस्कारों द्वारा व्यक्ति इस लोक को जीतता है और मरणोत्तर संस्कार द्वारा उस

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

(पर) लोक को—

जातसंस्कारेणेमं लोकमभिजयति मृतसंस्कारेणामुं लोकम्।

(३.१.४)

अतः मृतक संस्कार को अत्यधिक सावधानी के साथ संपन्न करने के लिए हिंदू जन सचेष्ट रहते हैं। हालाँकि कुछ आचार्यों ने मृत शरीर की अंत्येष्टि क्रिया को एक 'संस्कार' के रूप में मान्यता नहीं दी है। व्यास ने इसीलिए अपने सोलह संस्कारों की सूची में अंत्येष्टि संस्कार की गणना नहीं की है। इसके बावजूद अंत्येष्टि संस्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान हिंदुओं में मान्य है। इसीलिए यहाँ भी इस संस्कार की सोलह संस्कारों से अलग व्यख्या की जा रही है, ताकि हिंदू धर्मावलंबी इसके उद्देश्य व महत्त्व को समझ सकें।

अंत्येष्टि क्रियाओं का उद्भव रहस्यात्मक है। इसका आरंभ क्यों हुआ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इसके अनेक कारण थे, जिन्होंने मृत्यु के समय की जानेवाली क्रियाओं तथा विधि-विधानों को जन्म दिया। इन कारणों में सर्वप्रथम मृत्यु का भय था। किसी व्यक्ति की मृत्यु उसके संबंधियों को झकझोर देनेवाली एक असाधारण घटना थी। मृत्यु के पश्चात् मृतक का उसके चतुर्दिक् विद्यमान संबंधियों से निकट संबंधों का हमेशा के लिए अंत हो जाता था। तब संबंधी जन मृतक की मृत्यु तथा मृत्यूत्तर जीवन को सरल बनाने के लिए समुचित प्रबंध करते थे।

आदिम विश्वास के अनुसार—मृत्यु के साथ मनुष्य का पूर्णतः अंत नहीं हो जाता था। मृत्यु की प्रक्रिया के संबंध में साधारण सिद्धांत यह था कि मृत्यु द्वारा आत्मा शरीर से अलग हो जाता है। हालाँकि यह आत्मा मृत्यु के पूर्व भी स्वप्नों में शरीर से अलग होकर विचरण करता है, किंतु शरीर से उसका संबंध बना रहता है। रुग्णावस्था को भी प्रायः इसी प्रकार का आत्मा और शरीर का पार्थक्य समझा जाता है; किंतु मृत्यु से होनेवाला पार्थक्य या अलगाव अंतिम होता है।

जीवित संबंधियों के मन में मृतक के प्रति मिश्रित भाव रहते थे। भाव भय का था। यह विश्वास था कि मृतक व्यक्ति का स्वार्थ अब भी पारिवारिक संपत्ति तथा संबंधियों में निहित है, जिन्हें वह त्यागना नहीं चाहेगा और परिणामस्वरूप वह घर के आस-पास ही कहीं विद्यमान होगा। यह भी धारणा थी कि मृत व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मृत्यु द्वारा अपने जीवित संबंधियों से अलग कर दिया गया है, अतः वह परिवार को क्षति भी पहुँचा सकता है। इसलिए उसकी उपस्थिति और संपर्क के निर्माण के प्रयास किए जाते थे, उसे औपचारिक विदाई का संबोधन किया जाता था। इसके अतिरिक्त उसे भोजन तथा यात्रा के लिए आवश्यक अन्य उपकरण दिए जाते थे, जिससे वह परलोक के लिए अपनी यात्रा पुनः आरंभ कर दे।

दूसरा भाव था—मृतक के संबंधी मृतक के भावी कल्याण के लिए उत्कंठित रहते थे। प्राकृतिक रक्त-संबंध मृतक तथा उसके संबंधियों के प्रति अब भी विद्यमान रहता था। अतः मृत्यु के पश्चात् विशिष्ट स्थान की प्राप्ति में मृतक की सहायता करना वे अपना कर्तव्य समझते थे। इसीलिए अग्नि में शव का दाह कर दिया जाता था, ताकि मृतात्मा शुद्ध व पवित्र होकर पुण्य पितृलोक में प्रवेश प्राप्त कर सके। शव को जलाने के समय वे मंत्रोच्चारण करते थे।

इमौ युनिज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात्॥

(अथर्ववेद, १८/२/५६)

अर्थात् 'हे जीव! तेरे प्राणविहीन मृत देह की सद्गति के लिए इन दो अग्नियों को संयुक्त करता हूँ, अर्थात् तेरी मृतक देह में लगाता हूँ। इन दोनों अग्नियों द्वारा तू सर्व-नियंता परमात्मा (यम) के समीप परलोक को श्रेष्ठ गतियों के साथ प्राप्त हो।' वे अग्नि से भी प्रार्थना करते थे—

आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते।
शरीरमस्यं सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके॥

(अथर्ववेद, १८/३/७)

अर्थात् 'हे अग्नि! इस शव को तू प्राप्त हो। इसे अपनी शरण में ले। तेरा हरण-सामर्थ्य तेजयुक्त हो। तू इस शव को जला दे और हे अग्निरूप प्रभो! इस जीवात्मा को तू सुकृतलोक में धारण करा।'

यात्रा के लिए मृतक (जीवात्मा) को आवश्यक पदार्थ प्रस्तुत किए जाते थे, जिसके अभाव में उसे परलोक में कष्ट न उठाना पड़े। परलोक को इस लोक का ही प्रतिरूप माना जाता था। अतः नवीन जीवन आरंभ करने के लिए प्रत्येक आवश्यक वस्तु उसे दी जाती थी। उसके मार्गदर्शक का कार्य करने के लिए उसे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एक गाय दी जाती थी, उसे दैनिक भोजन दिया जाता था। वर्तमान में भी यमलोक के मार्ग में पड़नेवाली वैतरणी नदी को पार करने के लिए एक गाय दी जाती है, जो बाद में ब्राह्मण को दान कर दी जाती है।

शव की समुचित व्यवस्था तथा उससे संबद्ध क्रियाओं एवं विधि-विधानों के प्रमुख प्रयोजन हैं, जीवित संबंधियों की मरणाशौच से मुक्ति तथा मृतात्मा को शांति प्रदान करना। जब तक ये क्रियाएँ और विधि-विधान समुचित रूप से संपन्न नहीं किए जाते, मृतक की आत्मा परलोक में अपने स्थान को नहीं जाती, वह पितृलोक में स्थान भी नहीं पाती, पितृ-पूजा का सम्मानित स्थान भी उसे नहीं मिल पाता और वह प्रेत के रूप में संबंधियों के आस-पास चक्कर काटा करती है। यह विश्वास समस्त प्राचीन देशों में प्रचलित था और वर्तमान में भी है।

वेदों के बाद अंत्येष्टि क्रियाओं का वर्णन 'कृष्ण-यजुर्वेद' के तैत्तिरीय आरण्यक के षष्ठ अध्याय में प्राप्त होता है। उक्त आरण्यक में पितृमेध शीर्षक के अंतर्गत श्राद्ध अथवा ग्यारहवें दिन की क्रियाओं के अतिरिक्त प्रथम दस दिनों की क्रियाओं के लिए आवश्यक सभी मंत्र दिए गए हैं।

वर्तमान में मृतक की घर से श्मशान-भूमि तक की यात्रा तीन भागों में विभक्त है और शवयात्रा प्रत्येक विराम पर रुकती है, जहाँ विशेष विधि-विधान किए जाते हैं। मार्ग में यमसूक्तों का पाठ किया जाता है। किंतु वर्तमान समय में शव को ले जाते समय साधारणतः हरि या राम नाम का उच्चारण किया जाता है। हिंदू जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग न तो मार्ग में आवश्यक विधि-विधानों को संपन्न करता है और न ही यम की स्तुतिपरक वैदिक ऋचाओं का उच्चारण करता है।

अंत्येष्टि क्रिया—अंत्येष्टि क्रिया को पितृमेध, अन्त्यकर्म, अंत्येष्टि अथवा श्मशान कर्म आदि भी कहा जाता है। वर्तमान में इस संस्कार में संस्कृत अग्नि व दाह क्रिया से लेकर द्वादशाह तक के कर्म संपन्न किए जाते हैं। मृत व्यक्ति के शरीर को स्नान कराके, वस्त्रों से आच्छादित करके, तुलसी व स्वर्ण आदि पदार्थों को अर्पित करके शिखासूत्र सहित (यदि द्विज हो तो) उत्तर की ओर सिर करके चिता पर आरूढ़ किया जाता है तथा औरस पुत्र या सपिंडी या सगोत्री व्यक्ति सुसंस्कृत मंत्र सहित चिता में अग्नि देता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चिता में अग्नि देनेवाले व्यक्ति को बारहवें दिन अस्थियों का संचयन करके दसवें दिन दशाह कृत्य करके तिलांजलि देता है। वह दस दिन तक अशौच रहता है। इस काल में किसी भी प्रकार का नैमित्तिक कर्म वर्जित है। बौधायनीय पितृमेध सूत्रों में इस क्रिया की विशेष विधि दी गई है।

अंत्येष्टि क्रिया का रहस्य—हिंदू धर्म में अंत्येष्टि का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से महत्त्व है। मृत्यु के बाद मृत शरीर को अग्नि प्रदान करके वैदिक मंत्रों द्वारा दाह-क्रिया संपन्न की जाती है। वर्ण और आश्रम के अनुसार दशगात्र विधान, षोडश-श्राद्ध, सपिंडीकरण आदि क्रिया भी इसी संस्कार के अंतर्गत आती हैं।

पाँच कर्मेंद्रिय, पाँच ज्ञानेंद्रिय, पाँच प्राणवायु, मन और बुद्धि—इन सत्रह वस्तुओं का सूक्ष्म शरीर लेकर जीव अपने कर्मों के अनुसार षाट्कौशिक शरीर (त्वचा, रक्त, मांस, मेदा, मज्जा और अस्थि—इन षट् धातुओं से निर्मित शरीर को षाट्कौशिक शरीर कहते हैं) में प्रवेश करता है। वहीं प्रारब्ध को समाप्त करके जब उपर्युक्त सत्रह वस्तुओं को लेकर स्थूल शरीर से वह निकलता है, उस समय जीव को सूक्ष्म शरीर की रक्षा के लिए एक वायवीय शरीर मिलता है। इसी वायवीय शरीर से वह अपने कर्मानुसार कृष्ण या शुक्ल गति को प्राप्त करता है।

षाट्कौशिक स्थूल शरीर से निकलते ही तत्काल वह वायवीय शरीर को ग्रहण करता है। इसी समय जीव की प्रेत संज्ञा पड़ती है, अर्थात् वह अधिक चलने वाला और हलका जीव बन जाता है। स्थूल शरीर में मृत्यु के पूर्व अधिक समय तक निवास करने के कारण उस शरीर से जीव का विशेष लगाव हो जाता है। इससे जीव बार-बार वायु प्रधान शरीर के माध्यम से पूर्व शरीर के सूक्ष्म अवयवों की तरफ रहने की कोशिश करता है। इसी प्रेतत्व से मुक्ति के लिए दशगात्र आदि श्राद्ध क्रियाएँ शास्त्रों में बतलाई गई हैं।

मूर्ख हो या विद्वान्, सभी के लिए **'प्रेतत्वविमुक्तिकामः'**, ऐसा श्राद्ध प्रमाण में पढ़ा जाता है। मृतक की वासना जमीन में गड़े हुए तथा कहीं गंधयुक्त पड़े हुए पूर्व शरीर पर न जाए और उससे जीव की मुक्ति हो जाए, इसीलिए हिंदू धर्म में मृत शरीर को जलाने की प्रथा प्रचलित है। अग्नि-संस्कार से मृत शरीर का पार्थिव तत्त्व कण-कण जलकर रूपांतरण ग्रहण करता है। फिर भस्म रूप (फूल) पार्थिव तत्त्व गंगा की जल धारा में प्रवाहित कर दिया जाता है। वह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पवित्र जल उन भस्म कणों को उनके अपने-अपने रूप में परिवर्तित कर लेता है। इसके बाद ही मृतक का संबंध पूर्व शरीर (स्थूल शरीर) से विच्छिन्न हो जाता है।

संन्यासियों के मृत शरीर के लिए अग्नि संस्कार का विधान शास्त्रों में नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि कामनाओं में बाँधनेवाले कर्मों को तथा कृतकर्म (किए गए कर्म) फलों को त्यागने से तथा ईश्वर के प्रति दृढ़ अनुराग होने से उनकी अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार, धन आदि की वासना जीवन-दशा में ही छूट जाती है। इसलिए शरीर से निकली हुई संन्यासियों की आत्मा शीघ्रातिशीघ्र शुक्ल गति से प्रयाण कर जाती है। शुक्ल गति से प्रयाण करने वाले जीवों का पुनर्जन्म नहीं होता।

मृत शरीर की ओर आकर्षण करने वाली सामग्री ही नहीं रह जाती, इसलिए संन्यासियों के लिए श्राद्ध आदि कर्म का विधान धर्मग्रंथों में नहीं किया गया है। हिंदुओं में छोटे बालकों का शरीर भी नहीं जलाया जाता। उसे भूमि के अंदर गाड़ दिया जाता है। सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर में प्रविष्ट आत्मा का प्रगाढ़ संबंध स्थूल शरीर में कम दिनों में नहीं होता। इसलिए बालकों की मृत आत्मा पूर्व शरीर से संबंध शीघ्र-से-शीघ्र त्यागकर संचित कर्मों के अनुसार अपर (अन्य) शरीर को प्राप्त करती है। इसी कारण अल्पवयस्क बालकों के लिए अग्नि संस्कार नहीं बतलाया गया है।

मृत आत्माओं का प्रगाढ़ संबंध (वासना) पूर्व शरीर पर अवश्य रहता है। इसी आधार पर मुसलमान और ईसाई धर्मों में भी जहाँ शरीर को दफनाया जाता है, वहाँ उनके धर्मग्रंथों में कुछ क्रियाएँ बतला दी गई हैं। उन्हीं धर्मों में यह भी सिद्धांत बतलाया गया है कि जब तक प्रलय नहीं होता, तब तक जीव मृत शरीर के पास सुख-दुःख भोगा करता है।

प्रेत योनि की कल्पना

हिंदू धर्मग्रंथों में चौरासी लाख योनियाँ बताई गई हैं। उन योनियों में एक प्रेत योनि भी मानी गई है। कुछ पापों का परिणाम भोगने के लिए 'प्रेत योनि' मिलती है। जल में डूबकर, अग्नि में जलकर, वृक्ष से गिरकर, अनशन करके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मरने पर, हत्या कर दिए जाने पर मरनेवाले व्यक्ति प्रेत योनि में जाते हैं। वहाँ पर भी मृत आत्माओं के लिए वायु-प्रधान शरीर मिलता है।

प्रेतों के मन में सदैव यह इच्छा रहती है कि जहाँ पर उनका धन है, उनके शरीर के पार्थिव परमाणु हैं, उनके शरीर संबंधी परिवार हैं, वहीं पर रहें, अपने संबंधियों को अपनी तरह बनाएँ। सभी प्रकार के भौतिक पदार्थों का संचय करने का सामर्थ्य वायुतत्त्व में रहता है। यही कारण है कि प्रेत वायु-शरीर प्रधान होने के कारण जिस योनि की इच्छा करता है, वह साँप, बैल, भैंस आदि शरीर ग्रहण कर लेता है। किंतु उस रूप की स्थिति में वह कुछ ही समय तक ठहर सकता है। बाद में सभी पार्थिव परमाणु शीघ्र ही बिखर जाते हैं।

जिसका अंत्येष्टि संस्कार शास्त्र-विहित क्रियाओं से नहीं किया जाता, वह जीव कुछ दिनों तक के लिए प्रेत योनि ग्रहण करता है। किंतु शास्त्रोक्त विधि से जब उसका प्रेत संस्कार, दशगात्र-विधान, षोडश-श्राद्ध, सपिंडन-विधान किया जाता है, तब वह प्रेत-शरीर से छूट जाता है।

मनुष्य से भिन्न अन्य योनियों में जीव के ऊपर पंचकोशों का विकास पूर्णरूप से नहीं रहता है। इसलिए पशु-पक्षियों की आत्मा पूर्व शरीर के साथ प्रगाढ़ संबंध (अभिनिवेश) नहीं कर पाती। वहाँ पर प्रकृति माता के सहारे शीघ्रातिशीघ्र जीव अन्य योनि को प्राप्त कर लेता है। इसी कारण तिर्यग् (पक्षी आदि) योनियों के लिए दाह आदि संस्कार नहीं बतलाए गए हैं।

□□□

RAJA RAMMOHUN ROY
LIBRARY FOUNDATION
उपहार स्वरूप
Gifted by
राजा राम मोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान
RAJA RAMMOHUN ROY
LIBRARY FOUNDATION
BLOCK DD-34, SECTOR-I SALT LAKE
KOLKATA-700 064

70685

SPS Central Library
Acc No. ....
Srinagar

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पवित्र जल उन भस्म कणों को उनके अपने-अपने रूप में परिवर्तित कर लेता है। इसके बाद ही मृतक का संबंध पूर्व शरीर (स्थूल शरीर) से विच्छिन्न हो जाता है।

संन्यासियों के मृत शरीर के लिए अग्नि संस्कार का विधान शास्त्रों में नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि कामनाओं में बाँधनेवाले कर्मों को तथा कृतकर्म (किए गए कर्म) फलों को त्यागने से तथा ईश्वर के प्रति दृढ़ अनुराग होने से उनकी अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार, धन आदि की वासना जीवन-दशा में ही छूट जाती है। इसलिए शरीर से निकली हुई संन्यासियों की आत्मा शीघ्रातिशीघ्र शुक्ल गति से प्रयाण कर जाती है। शुक्ल गति से प्रयाण करने वाले जीवों का पुनर्जन्म नहीं होता।

मृत शरीर की ओर आकर्षण करने वाली सामग्री ही नहीं रह जाती, इसलिए संन्यासियों के लिए श्राद्ध आदि कर्म का विधान धर्मग्रंथों में नहीं किया गया है। हिंदुओं में छोटे बालकों का शरीर भी नहीं जलाया जाता। उसे भूमि के अंदर गाड़ दिया जाता है। सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर में प्रविष्ट आत्मा का प्रगाढ़ संबंध स्थूल शरीर में कम दिनों में नहीं होता। इसलिए बालकों की मृत आत्मा पूर्व शरीर से संबंध शीघ्र-से-शीघ्र त्यागकर संचित कर्मों के अनुसार अपर (अन्य) शरीर को प्राप्त करती है। इसी कारण अल्पवयस्क बालकों के लिए अग्नि संस्कार नहीं बतलाया गया है।

मृत आत्माओं का प्रगाढ़ संबंध (वासना) पूर्व शरीर पर अवश्य रहता है। इसी आधार पर मुसलमान और ईसाई धर्मों में भी जहाँ शरीर को दफनाया जाता है, वहाँ उनके धर्मग्रंथों में कुछ क्रियाएँ बतला दी गई हैं। उन्हीं धर्मों में यह भी सिद्धांत बतलाया गया है कि जब तक प्रलय नहीं होता, तब तक जीव मृत शरीर के पास सुख-दुःख भोगा करता है।

प्रेत योनि की कल्पना

हिंदू धर्मग्रंथों में चौरासी लाख योनियाँ बताई गई हैं। उन योनियों में एक प्रेत योनि भी मानी गई है। कुछ पापों का परिणाम भोगने के लिए 'प्रेत योनि' मिलती है। जल में डूबकर, अग्नि में जलकर, वृक्ष से गिरकर, अनशन करके

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मरने पर, हत्या कर दिए जाने पर मरनेवाले व्यक्ति प्रेत योनि में जाते हैं। वहाँ पर भी मृत आत्माओं के लिए वायु-प्रधान शरीर मिलता है।

प्रेतों के मन में सदैव यह इच्छा रहती है कि जहाँ पर उनका धन है, उनके शरीर के पार्थिव परमाणु हैं, उनके शरीर संबंधी परिवार हैं, वहीं पर रहें, अपने संबंधियों को अपनी तरह बनाएँ। सभी प्रकार के भौतिक पदार्थों का संचय करने का सामर्थ्य वायुतत्त्व में रहता है। यही कारण है कि प्रेत वायु-शरीर प्रधान होने के कारण जिस योनि की इच्छा करता है, वह साँप, बैल, भैंस आदि शरीर ग्रहण कर लेता है। किंतु उस रूप की स्थिति में वह कुछ ही समय तक ठहर सकता है। बाद में सभी पार्थिव परमाणु शीघ्र ही बिखर जाते हैं।

जिसका अंत्येष्टि संस्कार शास्त्र-विहित क्रियाओं से नहीं किया जाता, वह जीव कुछ दिनों तक के लिए प्रेत योनि ग्रहण करता है। किंतु शास्त्रोक्त विधि से जब उसका प्रेत संस्कार, दशगात्र-विधान, षोडश-श्राद्ध, सपिंडन-विधान किया जाता है, तब वह प्रेत-शरीर से छूट जाता है।

मनुष्य से भिन्न अन्य योनियों में जीव के ऊपर पंचकोशों का विकास पूर्णरूप से नहीं रहता है। इसलिए पशु-पक्षियों की आत्मा पूर्व शरीर के साथ प्रगाढ़ संबंध (अभिनिवेश) नहीं कर पाती। वहाँ पर प्रकृति माता के सहारे शीघ्रातिशीघ्र जीव अन्य योनि को प्राप्त कर लेता है। इसी कारण तिर्यग् (पक्षी आदि) योनियों के लिए दाह आदि संस्कार नहीं बतलाए गए हैं।

□□□

RAJA RAMMOHUN ROY
LIBRARY FOUNDATION
उपहार स्वरूप
Gifted by
राजा राम मोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान
RAJA RAMMOHUN ROY
LIBRARY FOUNDATION
BLOCK DD-34, SECTOR-I SALT LAKE
KOLKATA-700 064

70685

SPS Central Library
Acc No.
Srinagar

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

डॉ. सच्चिदानंद शुक्ल ने गोरखपुर विश्वविद्यालय से हिंदी साहित्य में एम.ए., काशी विद्यापीठ, वाराणसी से हिंदी साहित्य में पी-एच.डी. तथा हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद से संस्कृत विषय में 'साहित्य रत्न' एवं 'आयुर्वेद रत्न' की उपाधियाँ प्राप्त कीं।

सन् १९८० से १९८६ तक हिंदी प्रवक्ता के रूप में कार्य किया। तत्पश्चात् १९८६ से १९९५ तक दैनिक 'स्वतंत्र चेतना', दैनिक 'आज' तथा दैनिक 'भास्कर' के संपादकीय विभाग में विभिन्न पदों पर कार्य किया। हरिद्वार से प्रकाशित आध्यात्मिक मासिक पत्रिका 'दूधाधारी-वचनामृत' के संपादक के रूप में कार्य किया। इसके अतिरिक्त हिंदी मासिक 'वाग्धारा' तथा 'वंदना' व द्विमासिक 'भोजपुरी सतेज' का प्रकाशन व संपादन किया है। एक हजार से अधिक रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित।

नाथद्वारा साहित्य मंडल द्वारा 'संपादक शिरोमणि सम्मान' से सम्मानित।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ISBN 81-88266-82-5
9788188266821
Rs. 150/-

प्रतिभा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE